CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था

901·954
जं प
3865

मनोरमा जौहरी

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh
STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY
Acc. No. 3865
Book No. 901·954
ज प

3865
19.12.69
CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की बी. ए.
कक्षा के लिये निर्धारित पाठ्य-ग्रन्थ

मनोरमा जौहरी एम. ए. पीएच. डी.
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

क्रम 3865
प्राप्ति 19.12.69
State Museum, Library

भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रकाशक :
किशोरचन्द जैन
भारतीय विद्या प्रकाशन
पोस्ट बॉक्स, १०८
वाराणसी

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय लखनऊ
19/12/69

राज्य संग्रहालय
क्रम 3865
प्राप्ति तिथि 19/12/69
State Museum, Library, Lucknow

© मनोरमा जौहरी

3865
19.12.69

प्रथम संस्करण, १९६९ : २००० प्रतियाँ

901.954
ज प

मूल्य
सजिल्द ६.५०
अजिल्द ५.००

श्री शरद कुमार 'साधक', मानव मंदिर मुद्रणालय, नरहरपुरा, वाराणसी द्वारा पृ० १ से २०८ तथा शेषांश श्री बालकृष्ण शास्त्री, ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगञ्ज, वाराणसी, द्वारा मुद्रित।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आशीर्वचन

पृथिवी में प्राचीन काल से वर्त्तमान युग पर्यन्त विभिन्न प्रकार के संस्थान हुए हैं। यह बात ऐतिहासिक दृष्टि से सिद्ध होती है। समाज का संस्थान तत्तद्देश और तत्तद्युग के उपयोगी लक्ष्य द्वारा अनुप्राणित है। भारतवर्ष में जो वैदिक युग से वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रचलित है यह भी एक विशिष्ट सामाजिक संस्थान का आदर्श है और यह एक विशिष्ट उद्देश्य द्वारा प्रेरित हो कर प्राचीन ऋषियों द्वारा बनाया गया है।

वर्ण तथा आश्रम दोनों ही मोक्ष-प्रापक सामाजिक संस्थान हैं। यद्यपि वर्त्तमान युग में इसका उपयोग बहुत लोग समझते नहीं हैं, तथापि ऐतिहासिक दृष्टि से तथा तात्त्विक विचार से देखने पर, वर्ण-व्यवस्था तथा आश्रम-व्यवस्था न्याय-संगत ही प्रतीत होती है। मनोरमा ने अत्यन्त परिश्रम के साथ प्राचीन व्यापक शास्त्र ग्रंथों से प्रमाणादि संग्रह करके एक इस विषय में उत्कृष्ट ग्रंथ लिखा है। इसकी उपयोगिता वर्त्तमान समय में विशेष प्रतीत होती है क्योंकि वर्त्तमान युग के मनोभाव से सञ्चालित होकर विशिष्ट व्यक्तियों के मन में भी वर्णाश्रम के यथार्थ स्वरूप का ठीक-ठीक चित्र अंकित नहीं है। इस ग्रंथ में शास्त्रों के वचन का युक्ति के साथ समन्वय करते हुए प्राचीन भारतीय सामाजिक संस्थान का एक प्रामाणिक चित्र बनाया गया है। यह समाज-तत्त्व जिज्ञासु तथा ऐतिहासिक जिज्ञासु के लिये सर्वथा उपयोगी है। एक स्थान में शास्त्रीय सब प्रमाणों का संग्रह बहुत उपयोगी होता है। चाहे प्राचीन दृष्टि से देखा जाय, चाहे नवीन दृष्टि से, यह पुस्तक वर्त्तमान समय में, जबकि समाज का कोई स्थिर रूप नहीं है, अत्यंत उपयोगी है। मैं आशा करता हूँ कि प्राचीन सिद्धांतों को मानने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाले सामाजिक विद्वान् तथा नवीन भावापन्न समाज-तत्त्व-जिज्ञासु, दोनों प्रकार के पाठक, अपनी-अपनी दृष्टि से, इससे लाभ उठा सकें। मैं आशीर्वाद करता हूँ कि ग्रंथ-कर्त्री, इस प्रकार, सामाजिक महत्त्व-सम्पन्न प्रामाणिक ग्रंथों की और रचना करके हिन्दू समाज की सेवा कर सके। मैं उसके स्वास्थ्य और दीर्घायु की कामना करता हूँ।

२/९ सिगरा,
वाराणसी
४-५-६९

गोपीनाथ कविराज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भूमिका

वर्णाश्रम-व्यवस्था भारतीय संस्कृति के सामाजिक पक्ष का मूलाधार है। इस व्यवस्था की सुदृढ़ नींव पर, कर्मेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि-विषयक विविध व्यवसायों की लोककल्याणकारी भावना का मूर्त-भवन निर्मित हुआ, जिसे भारतीय संस्कृति कहा जाता है। सत्य, अहिंसा, परोपकार और त्याग—इस भवन के चार महान् स्तंभ रहे हैं, जिन्होंने उसे दृढ़ता प्रदान की। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में मान्य किया गया।

भारतीय संस्कृति में मानवता को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया गया है। इतना ही नहीं, सारी सृष्टि में एक कुटुम्ब जैसी भावना का उद्घोष सर्वप्रथम इसी संस्कृति ने किया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अत्यन्त उदार भावना को लेकर हम अग्रसर हुए। पृथिवी के सभी मानव—चाहे वे भारतीय हों या अन्यदेशीय—इसी उदार भावना से अनुप्राणित होकर चरित्र की शिक्षा प्राप्त करें, यही हमारे मनीषियों का ध्येय था।

"स्वं-स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।"

चेतन ही नहीं, सृष्टि के जड़ पदार्थ भी हमारे विशाल कुटुम्ब के अंग बने। जगत के जड़-चेतन के प्रति उदारता तथा स्नेह भावना ने एक नवीन भारतीय जीवन-दर्शन को जन्म दिया। इस जीवन-दर्शन ने सहिष्णुता से ऊपर उठकर समन्वय सिद्धान्त को अपनाने पर बल दिया। भारत के लम्बे इतिहास में प्राक-वैदिक युग से लेकर आधुनिक काल तक हम इस समन्वय को देखते हैं। भारतीय सभ्यता वह संश्लिष्ट संस्कृति है, जिसमें अनेक युगों और क्षेत्रों के ग्राह्य तत्त्व समन्वित हैं।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

चिंतन-स्वातन्त्र्य हमारे देश में बहुत प्राचीन काल से मान्य रहा है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय धर्म, दर्शन, साहित्य, ललितकला और लोकजीवन में हम विविधता देखते हैं। इस विविधता में अनुपम एकता विद्यमान रही है। जीवन के अनेक क्षेत्रों में प्राचीन भारत में जो प्रभूत मौलिक सृजन हुआ उसके मूल में हम उदार दृष्टिकोण तथा स्वतंत्र चिंतन को पाते हैं। देश-काल के अनुरूप हमारी धार्मिक, सामाजिक एवं अन्य व्यवस्थाओं में परिवर्तन भी होते रहे। यह परिवर्तन जीवित-जागृत राष्ट्र के लिये अनिवार्य होता है।

भारतीय समाज के प्राचीन व्यवस्थापकों ने इस बात की आवश्यकता को समझा कि समाज का संगठन ऐसे सिद्धान्तों पर किया जाए जो उपयोगी होने के साथ चिरस्थायी हों। समाज के विभिन्न वर्गों को व्यवस्थित करने तथा जीवन को आनुक्रमिक ढंग से निर्दिष्ट करने के लिये वर्णाश्रम-व्यवस्था का सृजन हुआ। ऐहिक तथा पारलौकिक जीवन की सफलता के लिए वर्ण तथा आश्रम को अपरिहार्य माना गया।

भारत में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के विषय में अनेक मत हैं। यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के निर्धारण में गुण-कर्म का विशेष स्थान था। इस संबंध में गीता में बहुत स्पष्ट मिलता है।

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः"।

चारों वर्णों के लिये निर्धारित कर्तव्यों को ठीक ही 'स्वभावजकर्म' कहा गया है। समाज की बहुविध आवश्यकताओं की सम्यक् पूर्ति के लिये वर्ण-व्यवस्था अनिवार्य थी। इसी बात को विशेष ध्यान में रखकर वैदिक युग में और उसके पश्चात् वर्ण-धर्मों का निर्धारण समयानुरूप किया गया।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आश्रम-व्यवस्था की उत्पत्ति के संबंध में उतना तर्क-वितर्क नहीं मिलता जितना वर्ण-व्यवस्था के विषय में। जीवन को काल क्रमानुसार चार भागों में विभक्त कर आश्रमों की सुन्दर व्यवस्था निर्मित हुई। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास, इन चारों आश्रमों के लिये विहित नियम भी सरल-सुबोध हैं। तार्किक दृष्टि से देखा जाय तो वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा आश्रम-व्यवस्था में नैतिक पक्ष अधिक पुष्ट है।

वैदिक युग से लेकर शताब्दियों पश्चात् तक वर्णाश्रम-व्यवस्था इस देश में मान्य रही है। भारत में ही नहीं, दक्षिण-पूर्व एशिया के अनेक देशों में जहाँ भारतीय संस्कृति फैली वहाँ वर्णाश्रम-धर्म का निश्चित अस्तित्व रहा। विदेशी शासकों ने इसका पालन कर तथा इसे प्रोत्साहन देकर गर्व का अनुभव किया। इस व्यवस्था के बल पर विदेशी आक्रमणों का भी प्रतिरोध किया जा सका। अनेक अवांछनीय तत्त्वों के प्रभाव को रोकने में वर्णाश्रम-व्यवस्था अत्यन्त सफल रही है। इस सांस्कृतिक प्रतिरोध की दृष्टि से भी वर्णाश्रम धर्म का महत्त्व है।

डा० मनोरमा जौहरी ने प्रस्तुत पुस्तक में वर्णाश्रम-व्यवस्था का वैज्ञानिक ढंग से रोचक विवरण दिया है। प्रमाणों तथा उद्धरणों को यथास्थान दिया गया है। प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक निस्संदेह बहुत उपादेय सिद्ध होगी।

कृष्णदत्त वाजपेयी

टैगोर प्रोफेसर तथा अध्यक्ष,
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति,
तथा पुरातत्व,
सागर विश्वविद्यालय, सागर

१५ अप्रैल, १९६९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लेखकीय

प्राचीन भारतीय सामाजिक संगठन की आधारभूत संस्थाओं, वर्ण और आश्रम, से संबंधित प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन का श्रेय छात्र-वर्ग को है, जिनसे पिछले ९-१० वर्षों के अध्यापन-काल में मेरा निकट सम्पर्क रहा है। इस बीच में मैंने यह अनुभव किया कि यद्यपि अनेक विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में सामाजिक संस्थाओं को समाविष्ट किया गया है, इस विषय पर हिन्दी में ऐसी कोई भी पुस्तक नहीं है, जो, पाठ्यक्रम को दृष्टि में रख कर लिखी जाने के कारण, छात्रोपयोगी हो। इस अभाव की पूर्ति के लिये मैंने दो पुस्तकें—"प्राचीन भारत में वर्णाश्रम-व्यवस्था" तथा "प्राचीन भारत में विवाह और परिवार"—लिखने का निश्चय किया। प्रस्तुत पुस्तक में वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-व्यवस्था के अतिरिक्त धर्म, पुरुषार्थ तथा वर्ण और जाति पर तीन परिशिष्ट हैं। पाद-टिप्पणियों में आवश्यकतानुसार प्रमाण और उद्धरण दिये गये हैं, जिससे विद्यार्थी सरलता से मूल साधनों से परिचित हो सकें। आशा है, पुस्तक विद्यार्थियों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी। "प्राचीन भारत में विवाह और परिवार" को यथासम्भव शीघ्र ही प्रकाशित करने की मेरी योजना है।

पुस्तक के नामकरण के विषय में भी दो शब्द स्थानोचित होंगे। सामान्यतया भारतीय इतिहास को तीन प्रमुख कालों—प्राचीन, मध्य और आधुनिक—में विभक्त किया जाता है। प्राचीन काल का तात्पर्य लगभग बारहवीं शती तक के समय से माना जाता है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने देश, काल व पात्र के अनुरूप होने वाले परिवर्त्तन को उचित माना। यह स्वाभाविक भी है कि भारत जैसे विस्तृत देश में स्थान,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पात्र तथा काल की भिन्नता के साथ-साथ, भारतवासियों के जीवन में परिवर्त्तन होता रहा हो। अतः किसी भी विषय को समस्त प्राचीन भारत के लिये निर्विवाद रूप से लागू करना कदापि उचित नहीं है, विशेषतया तब, जब कि सूचना के अधिकांश साधनों की तिथि विवादग्रस्त है और उनसे प्राप्त सूचना भी निश्चित और क्रमबद्ध नहीं है।

पुस्तक पंद्रह-बीस दिन पहले ही प्रकाशित हो गयी होती किंतु १७ अप्रैल, १९६९ को ठाकुर माँ (आदरणीय पं० गोपीनाथ जी कविराज की पत्नी) का स्वर्गवास हो जाने के कारण विलम्ब अनिवार्य हो गया। ईश्वर से प्रार्थना है कि वह उनकी आत्मा को शांति प्रदान करें।

महामहोपाध्याय पूज्यपाद पण्डित गोपीनाथ जी कविराज, पद्मविभूषण, सर्वतंत्र सार्वभौम, ने आशीर्वचन लिखने की महती अनुकम्पा की है। लेखिका श्रद्धयावनत होकर, श्रद्धेय गुरूजी के प्रति कृतज्ञता अर्पित करती हुई, उनकी सादर वन्दना करती है।

श्री कृष्णदत्त जी वाजपेयी, टैगोर प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, ने अत्यधिक व्यस्त रहने पर भी पुस्तक की भूमिका लिखने की कृपा कर, मुझे जो उत्साह प्रदान किया है, उसके लिये मैं उनसे कभी भी उऋण नहीं हो सकती।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व की बी. ए. परीक्षा के पाठ्यक्रम के लिये यह पुस्तक स्वीकृत की गयी है। एतदर्थ मैं तत्संबंधित अधिकारियों और विशेषतया डॉ. अवध किशोर नारायण, सीनियर प्रोफ़ेसर तथा अध्यक्ष, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति व पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, के प्रति आभारी हूँ।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

पुस्तक के लिये अपेक्षित सामग्री का संकलन करने में मुझे वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी विद्यापीठ, गोयनका, भारती महाविद्यालय (का. वि. वि.), महिला विद्यालय (का. वि. वि.) तथा सयाजीराव गायकवाड़ (का. वि. वि.) के पुस्तकालयों से अत्यधिक सहायता मिली है। संस्कृत विश्वविद्यालय के कर्मचारी, अपने सहयोग के लिये, विशेष रूप से धन्यवाद के पात्र हैं।

अनुक्रमणिका तैयार करने के लिये डॉ. कृष्णकुमार झवेरी, एम. बी. बी. एस. और डॉ. चन्द्रभूषणमणि त्रिपाठी, बी. एससी. (ऑनर्स), एम. बी. बी. एस. को, पुस्तक को प्रकाशित करने के लिये भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी के श्री किशोरचंद जी जैन को, आवरण के लिये श्री "मधुर" और लक्ष्मी प्रेस को, मुद्रण-कार्य के लिये मानव-मंदिर मुद्रणालय और ज्योतिष प्रकाश प्रेस के मालिकों को तथा विभिन्न प्रकार से सहायता करने के लिये श्री चन्द्रशेखर स्वामी को हार्दिक धन्यवाद।

अपनी पिछली पुस्तक "पौलिटिक्स ऐण्ड एथिक्स इन एंशण्ट इण्डिया" के अक्टूबर १९६८ में प्रकाशित होने के बाद मैंने इस पुस्तक का कार्य प्रारंभ किया। थोड़े ही समय में इसे तैय्यार करवाने का श्रेय मेरे पति, श्री ओम् प्रकाश जौहरी, को है, जिन्होंने व्यवसायतः व्यापारी होने पर भी, मार्ग में आने वाली सभी बाधाओं को दूर करने में पूर्ण मनोयोग से पथ-प्रदर्शन किया। अंत में उन लोगों को भी धन्यवाद, जिनके डर से हमलोगों को अपनी चार वर्षीया ऋचा को नानी व दादी के पास छोड़ कर, और घर से भाग कर घण्टों घण्टों पुस्तकालय में ही बैठ कर, काम करना पड़ा।

भैरोनाथ,
वाराणसी.
८-५-१९६९.

मनोरमा जौहरी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संकेत-सूची

अथर्व..... अथर्ववेद

अर्थशास्त्र····· कौटिल्य का अर्थशास्त्र

आपस्तम्ब......आपस्तम्ब धर्मसूत्र

ऐतरेय......ऐतरेय ब्राह्मण

ऋ......ऋग्वेद

कामंदक—कामंदक नीतिसार

गीता......भगवद्गीता

गौतम.. ...गौतम धर्मसूत्र

छान्दोग्य......छान्दोग्योपनिषद्

बौधायन..... बौधायन धर्मसूत्र

बृहदारण्यक......बृहदारण्यकोपनिषद्

मनु......मनुस्मृति

महा......महाभारत (चित्रशाला प्रेस)

याज्ञवल्क्य..... याज्ञवल्क्य स्मृति

शतपथ......शतपथ ब्राह्मण

शुक्र......शुक्रनीतिसार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय-सूची

आशीर्वचन

भूमिका

लेखकीय

संकेत-सूची

अध्याय : १

वर्ण-व्यवस्था १–८६.

वर्ण-व्यवस्था की प्राचीनता ... २

वर्णोत्पत्ति से संबंधित सिद्धांत ... ३

वर्ण-व्यवस्था–विभिन्न कालों में ... १६

वर्ण धर्म ... ३५

स्वधर्म ... ४९

आपद्धर्म ... ५५

वर्णसंकर ... ७१

वर्णों से जातियों की उत्पत्ति ... ७३

वर्ण-व्यवस्था और सामाजिक जीवन ... ७७

वर्ण-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था ... ८०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अध्याय : २

आश्रम-व्यवस्था ८७–१७०.

आश्रमों की प्राचीनता	...	८८
आश्रमों का क्रम	...	९२
आश्रमों और पुरुषार्थों का संबंध	...	९८
आश्रम-व्यवस्था–विभिन्न कालों में	...	१०२
आश्रम-धर्म	...	१२९
आश्रम-व्यवस्था और स्त्रियाँ	...	१६२
पुरुषार्थ और स्त्रियाँ	...	१६६
आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था	...	१६७
परिशिष्ट १ : धर्म	...	१७१
परिशिष्ट २ : पुरुषार्थ	...	१८३
परिशिष्ट ३ : वर्ण और जाति	...	१९४
सहायक ग्रंथ-सूची	...	२०३
अनुक्रमणिका	...	२०९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ण व्यवस्था

'वृ' धातु से उत्पन्न वर्ण शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य में अनेक अर्थों में किया गया है ।[1] क्रिया रूप में प्रयुक्त होने पर इसके विभिन्न अर्थ हैं रंगना अथवा वर्णन करना और संज्ञा रूप में इसका तात्पर्य कभी रंग से है, यथा कृष्ण वर्ण, गौर वर्ण, रक्त वर्ण[2], कभी अक्षरों से, यथा वर्णमाला, कभी यश से [3]और कभी वर्ण-विशेष से, यथा आर्य वर्ण और दास वर्ण [4]या ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, जो प्राचीन भारतीय समाज के चार वर्ण थे। वर्ण-व्यवस्था का तात्पर्य इन्हीं चारों से सम्बन्धित व्यवस्था से है ।

---

१. मोनियर विलियम्सः संस्कृत इङ्ग्लिश डिक्शनरी, पृ. ९२४,
शब्दकल्पद्रुमः, चतुर्थ काण्ड, पृ. २७७ और आगे,
तारानाथः संस्कृत डिक्शनरी, भाग ५, पृ. ४८५० और आगे ।

२. ऋग्वेद, १, ७३, ७; २, ३; ९, ९७, १५; १०, १२५, ७. आदि ।

३. राजा प्रजारंजनलब्धवर्णः । रघुवंश ६, २१.

४. यो दासं वर्णमधरं गुहाक । ऋग्वेद, २, १२, ४.
उभौः वर्णा वृषिरुग्रः पुपोष । वही, १, १७९, ६.
"By 'both classes' probably priests and princes, or institutions of sacrifices, are mentioned. M. Bergaine understands the expression to mean the two forms or essence of soma, the celestial and the terrestrial."
ग्रिफ़िथः दि हिम्स ऑफ़ दि ऋग्वेद पृ० ६४९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ण व्यवस्था की प्राचीनता

कुछ विद्वानों ने वर्ण व्यवस्था की प्राग्वैदिक उत्पत्ति को स्वीकार किया है।[१] उनके मत में यह व्यवस्था पूर्व वैदिक काल से भी पहले से प्रचलित थी, जिसे विकसित संस्था का रूप आर्यों ने दिया। स्लेटर ने इसे अनार्य माना है और वे इसकी द्रविड़ उत्पत्ति में विश्वास करते है।[२] पार्जिटर के मत में प्रारंभ में ब्राह्मण अनार्यों से संबधित थे।[३] प्राग्वैदिक काल के विषय में जानकारी के साधन अत्यल्प हैं, अतः इसके पक्ष या विपक्ष में निश्चित रूप से कुछ भी कहना संभव नहीं है। लेकिन ऋग्वैदिक काल में समाज के कुछ वर्गों के विषय में निश्चित सूचना मिलती है।

जैसा कि आगे बताया जायगा उस समय भी समाज में विभिन्न वर्ग अस्तित्व में थे। उनमें व्यवसाय, विवाह संबंधी प्रतिबंध, ऊँच नीच का भेद भाव आदि न होने के कारण तत्कालीन वर्ण व्यवस्था पश्चात् काल की अपेक्षा लचीली थी।

---

१. स्लेटर : दी द्रवीडियन एलिमेन्टस इन इंडियन कल्चर, पृ० ३३, ५४-६; पार्जीटर: एन्शण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन, पृ०३०६; हटन: कास्ट इन इण्डिया, पृ० १३२; सेन: ऑन दी ओरिजिन ऑफ कास्ट इन इण्डिया, विश्व भारती क्वार्टर्ली, भाग ५, खंड ३, १९३९-४० पृ०, २६२.

२. पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० ३३.

3. "Brahmanism then originally was not an Aila or Aryan institution. The earliest Brahmans were connected with the non-Aryan peoples and were established among them when the Ailas entered." पार्जिटर, पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ० ३०६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्णोत्पत्ति से संबंधित सिद्धान्त

वर्णोत्पत्ति से संबंधित सिद्धांतों में से कुछ पौराणिक उत्पत्ति बताते हैं और धार्मिक वाङ्मय में उपनिबद्ध हैं तथा कुछ ऐतिहासिक विकास पर आधारित। ये सिद्धांत निम्नांकित हैं।

१. पुरुष या ब्रह्मा के विभिन्न अवयवों से उत्पत्ति का सिद्धांत
२. मंत्रों से उत्पत्ति का सिद्धांत
३. यज्ञ के लिये उत्पत्ति का सिद्धांत
४. गुण कर्म का सिद्धांत
५. पूर्व जन्म के कर्म को वर्ण का आधार मानने वाला सिद्धाँत
६. साँस्कृतिक सिद्धांत
७. रंग से उत्पत्ति का सिद्धांत
८. व्यवसायिक उत्पत्ति का सिद्धांत और
९. समाज की आवश्यकताओं के कारण उत्पत्ति मानने वाला सिद्धांत।

पुरुष या ब्रह्मा के विभिन्न अङ्गों से उत्पत्ति

इस पौराणिक सिद्धांत का प्राचीनतम उल्लेख ऋग्वेद के दसवें मण्डल मे मिलता है। वहाँ मंत्रकार ने हजार सिर, हजार आँखों और हजार पैरों वाले एक विराट् पुरुष की कल्पना की है, जो भूत और भविष्य, दोनों ही है और जिससे समस्त सृष्टि उत्पन्न हुई है। उसी विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से राजन्य (क्षत्रिय), जंघा से वैश्य और चरण से शूद्र उत्पन्न हुए।[1] परवर्ती साहित्य में भी ऐसी

---

१. सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात।
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनाति रोहति
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्य कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत
ऋ० १०, ९०, १-२; १२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कल्पना मिलती है। महाभारत में विराट् पुरुष का स्थान ब्रह्मा ने ले लिया है। शांति पर्व में भीष्म द्वारा पुरूरवा और मातरिश्वा के संवाद का उल्लेख मिलता है। एक बार पुरूरवा ने मातरिश्वा से पूछा कि विभिन्न वर्ण कहाँ से उत्पन्न हुए हैं? मातरिश्वा ने उत्तर दिया "ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और इन तीनों वर्णों की सेवा करने के लिए चरण से शूद्र उत्पन्न हुए हैं"।[1]

मनुस्मृति के अनुसार "इस समस्त सृष्टि की रक्षा के लिए ब्रह्मा ने मुख,[2] बाहु, जंघा तथा पैर से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को उत्पन्न किया"।[3] वायु पुराण तथा विष्णु पुराण से भी ऐसी ही सूचना मिलती है लेकिन वहाँ क्षत्रिय की उत्पत्ति बाहु से नहीं, वक्षस्थल से मानी गई है।[4]

विभिन्न अवयवों से वर्णों की उत्पत्ति सम्भवतः वर्ण व्यवस्था के महत्त्व को बढ़ाने के लिए बताई गई है। समाज में इन चारों का वही

---

१. ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट उरुभ्यां वैश्य एव च॥
वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ।
वर्णश्चतुर्थः संभूत पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः॥
महा, शांति, १२२,४-५

२. सर्वस्यास्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः।
मुखबाहूरुपज्जानां पृथक्कर्माण्यकल्पयत॥ मनु, १,८७

३. वक्त्राद्यस्य ब्राह्मणा संप्रसूताः यद्वक्षस्तः क्षत्रिया पूर्वभागे।
वैश्याश्चोरोर्य्यस्य पूर्वभागे सर्वे वर्णा गात्र तः संप्रभूताः॥
वायुपुराण, ९,११३.

४. ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या शूद्राश्च द्विजसत्तम।
पादोरुवक्षःस्थलतो मुखतश्च समुद्गताः॥
विष्णु पुराण, १, ६, ६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थान था, जो कि शरीर में उन विभिन्न अंगों का, जिनसे वे उत्पन्न हुए माने गये थे। स्वस्थ शरीर में सभी अंगों का भी स्वस्थ होना आवश्यक है यद्यपि इन विभिन्न अंगों में कुछ का महत्व अधिक है और कुछ का कम, उदाहरणार्थ, सिर और पैर। दोनों ही हमारे लिए आवश्यक हैं, लेकिन हम यह जानते हैं कि सिर का महत्त्व पैर से भी अधिक है। सिर कटने पर जीवन असम्भव हो जाता है जब कि पैर कट जाने पर भी हम जीवित रह सकते हैं। इसी प्रकार चारों वर्ण समाज को व्यवस्थित बनाने के लिए समान रूप से ही आवश्यक हैं यद्यपि किसी को कम महत्त्व दिया गया और किसी को अधिक। यह स्वभाविक भी है।

अतः यह सिद्धान्त दो दृष्टियों से विचारणीय है क्योंकि वर्णों की रहस्यात्मक उत्पत्ति बताने के साथ साथ उनके कार्यों को भी आधार माना गया है, जिससे सिद्धान्त की व्यवहारिक और ऐतिहासिक महत्ता स्वयं सिद्ध है।[1]

मन्त्रों से उत्पत्ति

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मणों को गायत्री मन्त्र का पाठ भूः से, क्षत्रियों को भवः से और वैश्यों को स्वः से प्रारम्भ करना चाहिए क्योंकि इन्हीं शब्दों से क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों की उत्पत्ति

1. "Mysticism or magic should not be taken as a substitute for ignorance and the orthodox hypothesis, therefore, does not commend itself to careful obserever. If, however, we take the divine origin of the Varnas, as an allegorical explantaion of the functional division of society, the theory assumes practical significance."
मजूमदारः रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, पृ. २९५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुई हैं।[1] इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शूद्र धार्मिक अधिकारों से वंचित थे और इसी कारण उनकी उत्पत्ति को किसी मन्त्र के साथ जोड़ना तक शास्त्रकारों को अप्रिय लगा।

गुण और कर्म से उत्पत्ति का सिद्धान्त

यह सिद्धांत वर्ण की उत्पत्ति के आधार रूप में गुण और कर्म को स्वीकार करता है। भगवद्गीता में इसकी सूक्ष्म विवेचना की गयी है। श्री कृष्ण ने प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुणों—सत्त्व, रज और तम[2] की विशेषताओं का वर्णन किया है। उनके अनुसार सत्त्व गुण निर्मल (दोषहीन), प्रकाशित करने वाला (ज्ञान देने वाला) और संसार से निर्लिप्त रखने वाला है। इसके द्वारा मनुष्य को सुख तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है। रजो गुण अनुराग उत्पन्न करने वाला तथा इच्छाओं से उत्पन्न होने वाला है और मनुष्यों को कर्म करने के लिए प्रेरित करता है। तमो गुण अज्ञान से उत्पन्न होता है और सबको भ्रमित करता है। प्रमाद (कर्त्तव्य का ज्ञान न होना), आलस्य, नींद आदि इसकी विशेषताएँ हैं। इस प्रकार सत्त्व गुण को सुख का, रजोगुण को क्रिया का तथा तमो गुण को अज्ञान का कारण जानना चाहिए।[3] इन गुणों

१. प्रभु: हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पृ. २९५

२. सत्त्वं रजस्तम इति गुणा प्रकृतिसंभवाः।
गीता, १४, ५

३. तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ।।
रजो तु रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनाम् ।।
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तान्निबध्नाति भारत ।।
सत्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

की मात्रा में अधिकता अथवा न्यूनता के कारण विभिन्न व्यक्तियों के कर्मों में भी भिन्नता अनिवार्य है। श्री कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि "मैंने गुण और कर्म के विभाजन के द्वारा चारों वर्णों को बनाया है। मैं ही उन्हें बनानेवाला और नष्ट करने वाला भी हूँ[1]।" इसी कारण गीता में चारों वर्णों के कर्तव्यों को उनके "स्वभावज कर्म" (स्वभाव से उत्पन्न कर्म) कहा गया है।

विष्णु पुराण में भी इस सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। वहाँ पर पराशर ने मैत्रेय से कहा, "सृष्टि की रचना के इच्छुक ब्रह्मा ने सर्व-प्रथम सत्त्व गुण प्रधान ब्राह्मणों को मुख से, तदुपरांत रजोगुण विशिष्ट क्षत्रियों को वक्षस्थल से, रजो और तमोगुण प्रधान वैश्यों को जंघा से तथा तमो गुण प्रधान शूद्रों को चरण से उत्पन्न किया"।[2]

ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ।।
वही, १४, ६—९
अधिक जानकारी के लिए आगे के श्लोक देखिये। गीता १७, २ और आगे श्रद्धा, आहार, यज्ञ, तप, दान आदि के भी तीन भेद सात्त्विक, राजसिक और तामसिक बताये गये हैं।

१. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम् ।।
वही, ४, १३

२. सत्याभिध्यायिनः पूर्वं सिसृक्षोर्ब्रह्मणो जगत् ।
अजायन्त द्विजश्रेष्ठ सत्त्वोद्रिक्ता मुखात्प्रजाः ।।
वक्षसो रजसोद्रिक्तास्तथा वै ब्रह्मणोऽभवन् ।
रजसा तमसा चैव समुद्रिक्तास्तथोरुतः ।।
पद्भ्यामन्याः प्रजाः ब्रह्मा ससर्ज द्विजसत्तम ।
तमः प्रधानास्ताः सर्वाश्चातुर्वर्ण्यमिदं ततः ।
विष्णु पुराण, १, ६, ३–५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वायु पुराण में भी गुणों को वर्णों के वर्गीकरण का आधार बताया गया है।[1]

पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का सिद्धांत

छान्दोग्योपनिषद के अनुसार पूर्वजन्म में किये कर्मों के अनुसार विभिन्न वर्णों में जन्म होता है। कर्म जितने अच्छे होंगे, जन्म भी उतने ही ऊँचे वर्ण (क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) में होता है और जिनके कर्म बुरे होंगे, वे कुत्तो, शूकर तथा चण्डाल जैसी अशुभ योनियों को प्राप्त करते हैं[2]।

सांस्कृतिक उत्पत्ति

इस सिद्धांत के अनुसार समाज के विभिन्न वर्ग या वर्ण सांस्कृतिक भिन्नताओं के कारण अस्तित्त्व में आये। ऋग्वेद में मुख्य रूप से दो वर्गों के उल्लेख मिलते हैं—१. आर्य और २. अनार्य, दस्यु या दास। आर्य संस्कृति में यज्ञ को प्रधानता थी और इन्द्र उसके प्रमुख देवता थे, जब कि अनार्यों की अव्रत[3] (देवताओं को न मानने वाले) अक्रतु[4] (यज्ञ न करने वाले) और अनिद्र[5] (बिना इन्द्र के, इन्द्र को न

१. वायु पुराण, ९, ३६–४२; ९,१६०–१६५,
प्रभु: हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पृ० ३२७-८ पर उद्धृत।

२. तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूय चरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्श्वानयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा।
छान्दोग्योपनिषद, ५, १०, ७,

३. ऋ. १,५१,८; १, १७५, ३; ४, १४, ३

४. वही, ७, ६, ३

५. वही, १, १३३, १; ५, २, ३; १०, २७, ६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मानने वाले अर्थात् इन्द्र की पूजा न करने वाले) बताया गया हैं। ऋग्वेद में आर्य और अनार्य दोनों ही के लिए वर्ण शब्द का व्यवहार किया गया है ।[१]

रंगों से उत्पत्ति

महाभारत में चारो वर्णों को भिन्न-भिन्न रंगों वाला बताया गया है। शांति पर्व के अनुसार ब्राह्मणों का रंग सफेद, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीला और शूद्रों का काला बताया गया है।[२] इन रंगों के निश्चित तात्पर्य के विषय में कुछ संभावनाएं हमारे सामने आती हैं। संभवतः इन वर्णों के रंगों का सम्बन्ध गुणों से हो। क्योंकि सत्त्व गुण का प्रतीक सफेद, रजोगुण का लाल और तमोगुण का काला रंग माना गया है।[३] गुण कर्म के सिद्धांत के अनुसार गुण विशेष की प्रधानता के कारण चार वर्ण अस्तित्व में आये। हमारे मस्तिष्क पर इन रंगों के

इन विशेषताओं के अतिरिक्त आर्यों और दासों में शारीरिक (बाह्य) अंतर भी थे। दासों या दस्युओं को चिपटी नाक वाला (अनासः, वही ५, २९, १०), काले रंगवाला (कृष्णामपरवचम्, ९, ४१, १) कहा गया है। उनकी वाणी भी दोषयुक्त थी (मृध्र-वाचः, वही, ७, ६, ३; ५, २९, १०) ।

१. ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्र ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्यमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥
वही, ३, ३४, ९.

२. ब्राह्मणानां तु सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्ण शूद्रणामसितस्तथा ॥ महा, शांति, १८८, ५

३. सितः स्वच्छः तत्त्वगुणः प्रकाशात्मा शमदमादिस्वभावः । लोहितो रजो गुणः प्रवृत्त्यात्मा शौर्यतेज आदिस्वभावः । पीतकः रजस्तमो-व्यामिश्र कृष्यादीनिहीनकर्मप्रवर्तकः । असितः कृष्णः आवरणात्मा तमोगुणः स्वतः प्रकाशप्रवृत्तिहीनः शकटवत् परप्रेर्यः ।
वही, १८८, ५ पर नीलकण्ठी टीका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रभाव की चर्चा भी इस संबंध में की जा सकती है। सफेद रंग शांति शीतलता, प्रकाश (ज्ञान) का अनुभव कराता है। इसी कारण ब्राह्मणों का रंग सफेद और उनके कर्तव्य बुद्धि से संबंधित माने गये है। लाल रंग के तीखेपन, क्रियाशीलता और रक्त से सम्बन्धित होने के कारण क्षत्रियों को लाल बताया गया है और उनका कर्त्तव्य युद्ध करना। काला रंग आलस्य, निष्क्रियता तथा अंधकार (अज्ञान) का परिचायक होता है और इसी कारण यह रंग तमो गुण से संबंधित है और जिनमें ये विशेषताएँ प्रमुख हों, वे शूद्र कहलाए। पीला रंग वैश्यों से संबंधित है, जो व्यापार, खेती और पशुपालन के द्वारा धनोपार्जन करते हैं और संभवतः सोने को धन का प्रतीक मानकर, उनका रंग पीला बताया गया है।

व्यावसायिक उत्पत्ति

इस सिद्धान्त में वर्णों को व्यवसायों पर आधारित बताया गया है। ऋग्वैदिक काल की सामाजिक व्यवस्था में व्यवसाय सम्बन्धी कोई प्रतिबन्ध नहीं थे। एक ही परिवार के विभिन्न सदस्य विभिन्न व्यवसायों को करते थे। कालान्तर में जिस व्यवसाय में किसी वर्ग विशेष ने दक्षता प्राप्त कर ली होगी, वह उसी की विशेषताएँ बन गये होंगे, और समय बीतने के साथ-साथ उसी वर्ग तक सीमित रह गये होंगे, यथा स्वर्णकार, लोहार, चमार आदि। बुद्धिबलवालों का एक अलग वर्ग हुआ होगा जिन्हें ब्राह्मण कहा गया। इसी प्रकार बाहुबल वाले क्षत्रिय, व्यापार में लगे रहने वाले वैश्य और तीनों की सेवा करने वाले शूद्र कहलाये।

व्यवसाय या कार्य के कारण हुए परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं। द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा तथा कृपाचार्य जन्मना ब्राह्मण और कर्मणा क्षत्रिय थे जिन्होंने महाभारत युद्ध में भाग लिया। परशुराम भी जन्मतः क्षत्रिय थे और कालान्तर में ब्राह्मण कहलाये। राजकुमार

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवापि, सिन्धुद्वीप[१] तथा वीतहव्य[२] ने भी ब्राह्मणत्व प्राप्त किया। इसी प्रकार क्षत्रिय राजकुमार नाभाग[३] और पृषध[४] क्रमशः वैश्य और शूद्र हो गये। जन्मना क्षत्रिय गार्ग्य, दुरतिक्षय, पुष्करारुणि, त्रैय्यारुणि और कवि के ब्राह्मण बनने का उल्लेख भागवत पुराण में मिलता है[५] और राजा शर्याति के विषय में कहा गया है कि उन्होंने यज्ञ में पुरोहित का काम किया।[६] इस प्रकार व्यवसाय के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के विशिष्ट व्यवसाय तथा कर्म और स्वभाविक गुणों को भी हम समाविष्ट पाते है।

समाज की आवश्यकताओं के कारण उत्पत्ति मानने वाला सिद्धान्त

बृहदारण्यकोपनिषद के अनुसार प्रारम्भ में केवल ब्रह्म ही थे। अकेले वे प्रगति न कर सके। अतः उन्होंने अपने एक और स्वरूप को

१. वही, शल्य, अध्याय ४०

२. भृगोर्वचनमात्रेण स च ब्रह्मर्षितांगतः।
वीतहव्यो महाराज ब्रह्मवादित्वमेव च।।
वही, शल्य, ३०, ५७—८

३. नाभागो दिष्टपुत्रोऽन्यः कर्मणा वैश्यतां गतः।
भागवत पुराण, ९, २, २३

४. वही, ९, २, २–९

५. वही, ९, २१, १९–२०

६. वही, ९, अध्याय ३। यदि इस प्रकार वर्ण में परिवर्त्तन हो सकता था तो कुछ व्यावहारिक प्रश्न हमारे सामने आते हैं। किसी एक व्यक्ति का वर्ण बदलता था तो उसके परिवार के सब लोगों के भी वर्ण बदलते थे या नहीं ? किसी व्यक्ति का वर्ण बदल गया है, इसकी सूचना दूसरों को कैसे दी जाती थी ? लोगों की इसके प्रति क्या प्रतिक्रिया होती थी ? वर्ण बदलने का प्रमाण कौन देता था ?

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बनाया जिससे कल्याण हो सके। उनका यह रूप क्षत्र था और इसमें इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान, ये देवता समाविष्ट थे। तब भी स्थिति संतोषजनक न हो पाई और तब उन्होंने, वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मरुत् के रूप में वैश्यत्व निर्माण किया। इतना होने पर भी उन्हें कुछ कमी महसूस हुई और तब उन्होंने शूद्र के रूप में पूषण देवता को बनाया। इस प्रकार देवताओं के ये चार वर्ण कल्याण के लिए बनाये गये।[1]

इस विवरण के सम्बन्ध में तीन बातें विचारणीय हैं—

(१) यहाँ ये चारों वर्ण देवताओं से सम्बन्धित हैं,

(२) इससे किसी प्रकार के ऊँच नीच के भेद भाव की सूचना नहीं मिलती है, और

(३) चारो वर्णों की उत्पत्ति कल्याण के लिये अनिवार्य मानी गयी है।

महाभारत में वर्णोत्पत्ति से संबंधित अनेक प्रसंगों में से एक में बताया गया है कि ब्रह्मा ने सर्व प्रथम ब्राह्मणों को और सत्य, धर्म, तप तथा सदाचार आदि नैतिक गुणों को बनाया।[2] प्रारंभ में सभी ब्राह्मण थे, किसी प्रकार का वर्ण-विभेद नहीं था। कालांतर में अपने अपने कर्त्तव्यों के कारण लोग विभिन्न वर्णों के कहे जाने लगे।[3] जो लोग इच्छाओं की पूर्ति करने में और सांसारिक प्रलोभनो में लगे रहते थे, जो तीखे, क्रोधी तथा साहसप्रिय थे तथा जिन्होंने स्वधर्म[4] का

---

१. बृहदारण्यक, १, ४, ११-५

२. महा, शांति, १८८, १, २

३. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्।। वही, १८८, १०.

४. ब्रह्मा ने ब्राह्मणों के साथ-साथ जिस आचारावली का विधान किया, यहाँ संभवतः उसी को स्वधर्म कहा गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परित्याग किया, वे द्विज क्षत्रिय कहलाये।[१] स्वधर्म को छोड़कर पशुपालन का कार्य जिन्होंने अपनाया, पीतवर्ण वाले वे वैश्य कहलाए।[२] हिंसात्मक कार्यों में रुचि रखनेवाले, झूठ बोलने वाले, लोभी, किसी भी तरह से जीविकोपार्जन करने वाले, अपवित्र तथा काले रंग वाले द्विज शूद्र बन गये।[३] इस प्रकार विभिन्न व्यवसायों को अपनाने के कारण मौलिक द्विज विभिन्न वर्णों के कहे गये।[४]

मातरिश्वा के अनुसार चारों वर्णों को उत्पन्न करने के वाद ब्रह्मा ने धर्म कोश की रक्षा करने के लिये ब्राह्मणों को, प्रजा की रक्षा करने के लिये क्षत्रियों को, धनधान्य के द्वारा सब वर्णों का भरण पोषण करने के लिये वैश्यों को और सब वर्णों की सेवा करने के लिए शूद्रों को नियुक्त किया।[५] अनुशासन पर्व में महेश्वर ने बताया कि ब्राह्मण

---

१. कामभोगप्रियास्तीक्ष्णा: क्रोधना: प्रियसाहसा:।
त्यक्तस्वधर्मा रक्तांगास्ते द्विजा: क्षत्रतां गता:॥
वही, १८८, ११.

२. गोभ्यो वृत्तिं समास्थाय पीता: कृष्यपुजीविन:।
स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्ति ते द्विजा: वैश्यतां गता:॥
वही, १८८, १२.

३. हिंसानृतप्रिया लुब्धा: सर्वकर्मोपजीविन:।
कृष्णा: शौचपरिभ्रष्टा: ते द्विजा: शूद्रतां गता:॥
वही, १८८, १३.

४. इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गता:॥ वही, १८८, १४.

५. ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनुजायते।
ईश्वर: सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥
अत: पृथिव्या यन्तारं क्षत्रियं दण्डधारिणम्।
वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन् वर्णान् विभृयादिमान्।
शूद्रो ह्येतान् परिचरेदिति ब्राह्मनुशासनम्॥
वही, ७२, ६—८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसी को कहना चाहिए जो ब्राह्मणों के जैसा आचरण करे और शूद्र के समान आचरण करने वाले को शूद्र कहना चाहिए ।[1]

उपर्युक्त सूचनाओं से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रारम्भ में मनुष्य की आवश्यकताएँ सीमित थीं । जैसे जैसे समय बीता, आवश्यकताएँ बढ़ी । विभिन्न कार्यों का उत्तरदायित्व विभिन्न लोगों को सौंपा गया । ऐसा करते समय उनकी रुचि और मानसिक झुकाव (Interest and attitude) का ध्यान रक्खा गया होगा । आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने प्रकृति (temperament) के आधार पर व्यक्तित्व के दो प्रकार बताये हैं, प्रबल(dominant) और अप्रबल (submissive) । प्रथम प्रकार के लोग दूसरे प्रकार के लोगों पर प्रभाव जमाते हैं और दूसरे प्रकार वाले अपने को आज्ञापालक के रूप में समर्पित करते हैं । ब्राह्मण और क्षत्रिय प्रबल, शूद्र अप्रबल तथा वैश्य दोनों के बीच के बताये जा सकते है । प्रबल प्रकृति वालों में भी जो बहुत ही क्रोधी या तीक्ष्ण स्वभाव के रहे होंगे, वे क्षत्रिय कहे गये होंगे । किसी भी कार्य को कुशलता पूर्वक करने के लिए, उसका हमारी प्रकृति के अनुकूल होना आवश्यक है। अप्रबल प्रकृति वालों को युद्ध में भेजना अनुचित होगा । प्रारम्भ में प्रकृति के अनुसार कर्म निश्चित किये गये और बाद में इन्हीं कर्मों को उन समुदायों की विशेषता के रूप में जाना गया होगा ।

---

१. कर्मभिशुचिभिर्देवी शुद्धात्मा विजितेन्द्रियः ।
शूद्रोऽपि द्विजवत्सेव्य इति ब्रह्माऽब्रुवत् स्वयम् ।।

स्वभावः कर्म च शुभं यत्र शूद्रेऽपि तिष्ठति ।
विशिष्टः स द्विजातेर्वै विज्ञेय इति मे मतिः ।।

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च संततिः ।
करणानि द्विजत्वस्य वृत्तावेव तु कारणम् ।।

वही, १४२, ४८-५०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में जो कार्य ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों की विशेषताएं समझे जाते थे, वैसे ही कार्यों को करने वाले अन्य देशों में भी थे।[१] प्राचीन सुमेर के समाज में दो श्रेणियां थीं—स्वतन्त्र और गुलाम। गुलामों और शूद्रों के कार्यों की तुलना की जा सकती है, यद्यपि अन्य कई बातों में वे सर्वथा भिन्न थे। बेबीलोन में तीन वर्ग थे—पहले के अंतर्गत राजा, राज्य के कर्मचारी (क्षत्रियों से तुलनीय), धर्माधिकारी (ब्राह्मणों से तुलनीय), धनी व्यक्ति जमींदार व व्यापारी (वैश्यों से तुलनीय), दूसरे वर्ग के अन्तर्गत मजदूर (शूद्रों से तुलनीय), और तीसरे वर्ग के अंतर्गत गुलाम थे।

इसी प्रकार एथेंस में सम्पन्न व्यापारी और गरीब वर्ग थे। चीन के विभिन्न वर्ग अपनी अपनी विशेषताओं से युक्त थे। प्राचीन मिस्री समाज में पांच वर्ग थे—राजपरिवार, सामन्त, पुजारी, मध्यम वर्ग तथा सर्फ। अट्ठारहवीं शताब्दी के यूरोप में चार वर्ग ('estates') थे—पहले में पादरी, दूसरे में शासक तथा सैनिक, तीसरे में सौदागर और व्यापारी तथा चौथे में सामान्य व्यक्ति थे।[२] स्पष्ट है कि इनमें और प्राचीन भारत के चारों वर्णों में निकट समानता है।

---

1. "The actual mention of the caste system in Avestan literature as comprising of the priest, the charioteer (the chief of warriors), agriculturist and the artisans, and an identical division of the society in ancient India may point to a common origin of the caste system, specially because the Indo-Aryans are only a branch of the same race which moved towards Persia."

   मजुमदार: रेसज़ एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया, पृ० २८९

२. वार्ड (Ward): सोशल क्लासेज़ एण्ड सोशियोलॉजिकल थ्योरी, अमेरिकन जर्नल ऑफ़ सोशियोलोजी, भाग १३, पृ० ३१७-२७, प्रभु: हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पृ० ३२९ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि किसी भी समाज में, जब तक वह बहुत ही आदिम (Primitive) न हो, किसी न किसी प्रकार का वर्गीकरण अनिवार्य होता हैं, यद्यपि वर्गीकरणके आधार तथा समाज में उनके स्थान भिन्न हो सकते हैं। समाज की आवश्यकताएँ (functional necessities)[1] इनके अभाव में पूरी नहीं हो सकतीं।

वर्ण-व्यवस्था—विभिन्न कालों में

विभिन्न कालों में वर्ण व्यवस्था के स्वरूप में यत्किंचित् परिवर्तन हुआ। कभी जन्म को वर्ण के आधार के रूप में देखा गया और कभी कर्म को। कभी चारों वर्णों की सामाजिक स्थिति (status) में समानता थी और कभी ब्राह्मण सबसे ऊँचे और शूद्र सबसे नीचे माने जाते रहे। वर्ण-व्यवस्था की कठोरता अथवा लचीलेपन को जानने के लिये कुछ मापदण्डों को ध्यान में रक्खा जा सकता है, जैसे—

(क) आनुवंशिकता, अर्थात् वर्ण का निश्चय जन्म के आधार पर किया जाता है या किसी अन्य आधार पर।

(ख) व्यवसाय, अर्थात् सबको व्यवसाय का निश्चय करने का अधिकार था या व्यवसाय भी जन्म के अनुसार निर्धारित किया जाता था।

(ग) विवाह अर्थात् विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध थे या अंतवर्ण विवाह भी सम्भव थे।

और (घ) ऊँच नीच का भेद भाव अर्थात् सब वर्णों की स्थिति (status) एक जैसी थी या उनमें श्रेणियाँ (gradation) थीं।

इन विशेषताओं को दृष्टि में रखते हुए हम विभिन्न कालों में वर्ण व्यवस्था के स्वरूप का अध्ययन करेंगे।

---

१. देखिये प्रभु, पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ० ३३४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पूर्व वैदिक काल

पूर्व वैदिक काल के विषय में जानकारी का एकमात्र साधन ऋग्वेद है। ऋग्वेद में चारों वर्णों के सम्बन्ध में विशेष सूचना नहीं मिलती। चारों वर्णों का सामूहिक उल्लेख केवल पुरुष सूक्त में ही मिलता है, जहाँ ब्राह्मण को विराट् पुरुष के मुख से, राजन्य (क्षत्रिय) को बाहुओं से, वैश्य को जंघा तथा शूद्र को पैरों से उत्पन्न बताया गया है।[१] लेकिन पुरुष सूक्त को अपेक्षाकृत बाद का (later interpolation) माना जाता है। अतः पूर्व वैदिक काल के सामाजिक संगठन के सम्बन्ध में इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है।

ऋग्वेद में ब्राह्मण शब्द अनेक बार प्रयुक्त किया गया है।[२] जैसा कि काणे ने स्पष्ट किया है, वहाँ ब्राह्मण शब्द का प्रयोग जन्मना ब्राह्मण के अर्थ में नहीं किया गया है। यह वर्गविशेष का सूचक है।[३] "ब्रह्मजाया"[४] का अर्थ ब्राह्मण की पत्नी नहीं, बृहस्पति की पत्नी अधिक उचित प्रतीत होता है। घुर्ये के अनुसार "ब्रह्मपुत्र"[५] (ब्राह्मण का पुत्र) आनुवंशिकता को आधार के रूप में बताने वाला

---

१. ऋ, १०, ९०, २

२, वही, १, १६४, ४५; ६, ७५. १०; ७, १०३, ७–८ आदि।

3. "That brahmanas in the Rigveda were a class by themselves may be conceded, but whether they had become a caste by birth is a matter of opinion dependent on the connotation given to the word caste."

काणे: हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, पृ. २९। पृष्ठ २८ भी देखिये।

४. ऋ, १०, १०९, २–३, ६–७

५. उद्गातेव शकुने साम गायसि ब्रह्मपुत्र इव सवनेषु शंसति। वही, २, ४३, २

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एक उदाहरण है ।[१] लेकिन काणे इसका अर्थ ऋत्विज् मानते हैं ।[२]

क्षत्रिय शब्द ऋग्वेद में अनेक बार और विभिन्न अर्थों में मिलता है जैसे देवताओं की उपाधि[३] और राजा ।[४] क्षत्रिय वर्ण को बताने के लिये राजन्य शब्द का उल्लेख पुरुष सूक्त में है ।[५]

वैश्य शब्द ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में ही आता है, यद्यपि 'विश्' के प्रयोग अनेक हैं । 'विश' का सामान्य अर्थ समूह है[६] यथा 'दासी-विशः'[७], 'मानुषीर्विशः'[८] आदि ।

'शूद्र' शब्द का प्रयोग केवल एक ही स्थान पर किया गया है[९] यद्यपि दास और दस्यु शब्द के प्रयोग अनेक हैं । ऐसा संभव है कि दास और दस्युओं को आर्यों ने पराजित किया और ये ही शूद्र कहलाये ।[१०]

ऋग्वेद में कई असवर्ण विवाह उल्लिखित हैं लेकिन ऐसे संबन्धों को किसी प्रकार हीन या अप्रशस्त समझा जाता हो, ऐसा प्रमाणित नहीं होता । ऋग्वैदिक काल में सम्पन्न हुए विवाहों में से कुछ परवर्ती

१. घुर्येः कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, पृ. ४४
२ काणेः पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ. २७
३. ऋ, ७, ६४, २; ८, २५, ८; ८, ६७, १; १०, ६६, ८
४. वही, ४, ४२, १; १०, १०९, ३
५. वही, १०, ९०, २
६. ता ईं विशो न राजानं वृणाना बीभत्सवो अप वृत्रादतिष्ठन् ।
वही, १०, १२४, ८
७. वही, ४, २८, ४; ६, २५, २
८. वही, ३, ५, ३; ३, ६, ३; ३, ११, ५ । विशेष जानकारी के लिये देखिये काणे, पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ. ३२–३
९. ऋ, १०, ९०, २
१०. काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० ३३

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साहित्य में उल्लिखित हैं, जैसे क्षत्रिय राजा ययाति और ब्राह्मण की पुत्री देवयानी, क्षत्रिय राजा दुष्यंत और शकुंतला (जिसे कण्व नामक ब्राह्मण ऋषि की कन्या के रूप में जाना जाता था), ऋषि स्यावाश्व (ब्राह्मण और राजा रथवीति की पुत्री, राजा असंग और अंगिरस-वंशीया कन्या और राजा स्वनय की कन्याएँ तथा ऋषि कक्षिवान् आदि के विवाह।[1]

पूर्व वैदिक काल में व्यवसाय से संबंधित प्रतिबंध भी अनुपस्थित थे। दसवें मण्डल में एक ब्राह्मण वैद्य की चर्चा मिलती है।[2] इसी प्रकार नवें मण्डल में एक मंत्रकार के पिता को वैद्य तथा माता को अनाज पीसने वाली बताया गया है।[3] ब्राह्मण ऋषि के वंशज कुशल रथकार थे।[4] मंत्रकार की ये प्रार्थना कि "हे इन्द्र! क्या तुम मुझे लोगों का रक्षक बनाओगे, या मुझे राजा बनाओगे, या मुझे ऋषि बनाओगे या मुझे अनन्त सम्पत्ति दोगे?" भी इसी ओर संकेत करती हुई लगती है।[5]

---

१. प्रभु: हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पृ० २९४
२. ओषध्यः सं वदन्ते सोमेन सह राज्ञा। यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षा उपस्त यः।
ऋ, १०, ९७, २२
३. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिम...
वही, ९, ११२, ३
४. एतं वा स्तोममश्विनावकर्मा तक्षाम भृगवो न रथम्।
न्यमृक्षाम योषणा न मर्यें नित्यं न सूनुं तनयं दधानाः
वही, १०, ३९, १४
५. कुविन्मा गोपां करसे जनस्य कुविद् राजनं मघवन्नृजीषिन्।
कुविन्म ऋषिं पपिवांसं सुतस्य कुविन्मे वस्वो अमृतस्य शिक्षाः
वही, ३, ४३, ५

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि विभिन्न वर्णों की सामाजिक स्थिति (status) में ऊँच नीच की भावना होती तो वर्ण का निर्धारण जन्म के द्वारा होता और अंतर्वर्ण विवाहों तथा व्यवसायों के सम्बन्ध में छूट न होती। एक ही परिवार के सदस्य जिन विभिन्न व्यवसायों को अपना सकते थे वे कालांतर में वर्णविशेषों के धर्मों के रूप में जाने गए। इस प्रकार ऋग्वैदिक काल में किसी न किसी प्रकार का वर्गीकरण था ऐसा निश्चित सा प्रतीत होता है यद्यपि उसमें किसी प्रकार की कठोरता नहीं थी और इन विभिन्न वर्गों को एक दूसरे से मिलने जुलने की स्वतन्त्रता थी।

पूर्व वैदिक काल से सम्बन्धित वर्ण-व्यवस्था का उपर्युक्त विवरण ऋग्वेद पर आधारित है, जिसकी रचना का समय विवादग्रस्त है।[1] भाषा के आधार पर इसे १००० ई० पू० में रक्खा गया है। निःसंदेह इससे ज्ञात संस्कृति इसकी रचना-काल से पहले की है और उसे १५०० ई० पू० से १००० ई० पू० में रखना उचित है।[2]

उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था

उत्तर वैदिक काल का तात्पर्य भारतीय इतिहास के उस काल-विशेष से है, जिससे सम्बंधित सूचना सामवेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद उनकी संहिताओं और उनके ब्राह्मणों से मिलती है। इस समय वर्ण-

---

१ बलदेव उपाध्याय: संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४८ और आगे।

2. "Thus from general linguistic considerations we get for the Rigvedic language as known to us an approximate date of 1000 B. C. Although the culture represented by it must be considerably older, it can hardly be pushed back considerably before 1500 B. C."

दि वैदिक एज, पृ० २०४, विशेष विवरण के लिये देखिए वही, पृ० २०३ और आगे तथा २२५ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवस्था का अस्तित्त्व निर्विवाद है। अनेक स्थानों पर चारों वर्णों के पृथक् तथा सामूहिक उल्लेख मिलते हैं।

यजुर्वेद में चारों वर्णों को ब्रह्म के विभिन्न अंगों से उत्पन्न माना गया है[1] और उनके कार्यों के भी उल्लेख मिलते हैं।[2] चारों वर्णों द्वारा तेज-प्राप्ति के लिये प्रार्थना भी की गयी है।[3] अथर्ववेद में ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बतानेवाले प्रसंग हैं।[4] ब्राह्मणों की सुख-सुविधा का समुचित ध्यान रक्खा जाता था, अन्यथा उन्हें कष्ट पहुँचने पर, किसी का राज्य उसी प्रकार निरर्थ हो जाता था, जैसे जल में टूटी नाव।[5]

राजा क्षत्रिय होते थे। इसके विषय में भी अथर्ववेद से सूचना मिलती है।[6] अथर्ववेद के उन्वीसवें काण्ड में दर्भ देवता की स्तुति करते हुए कहा गया हैं "हे शत्रुनाशक (दर्भ देवता) ! आप मुझे ब्राह्मणों क्षत्रियों,-वैश्यों का स्नेह भाजन बनाइये।"[7] यहाँ वैश्यों के लिए आर्य शब्द प्रयुक्त है।

---

१. यजुर्वेद, ३१, १०-१

२. ब्राह्मणे ब्राह्मणं क्षत्राय राजन्यं मरुदभ्यो वैश्यं तपसे शूद्रं तमसे तस्करं नारकाय वीरहणं पाप्मने क्लीवमाक्रयाया आयोगूं कामाय पुश्चलूमतिक्रुष्टाय मागधम् ॥ वही, ३०, ५

३. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नमस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ॥ वही, १८, ४८

४. अथर्ववेद, ५, १७, ९

५. वही, ५, १९, ८, १५

६. को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो इच्छन्।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥
वही, ७, १०३

७. प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च।
वही, १९, ३२, ८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तैत्तिरीय संहिता में चारों वर्णों को तेज प्रदान करने की प्रार्थना की गई है[1] और कहा गया है कि प्रजापति ने आत्मा की स्तुति की और तब चारो वर्णों का सृजन किया।[2]

उत्तर वैदिक काल में वर्ण-भेद के अनुसार आचार-व्यवहार में भी भिन्नता आ गयी थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार चारों वर्णों को बुलाने के तरीके अलग अलग थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र के लिए क्रमश: एहि, आगच्छ, अद्रव तथा अंधव का क्रमश: प्रयोग किया जाता था।[3] विभिन्न वर्णों के लिए पिण्ड का आकार भी अलग अलग होता था।[4]

उच्चरित मन्त्र, गायत्री मन्त्र के प्रारम्भ, यज्ञ और यज्ञ में प्रयुक्त लकड़ी में भी भिन्नता का विधान मिलता है और साथ ही ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य के और शूद्र के बीच के अन्तर को बढ़ाने की प्रवृत्ति स्पष्टरुपेण लक्षित होती है। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उपनयन संस्कार के अवसर पर ब्राह्मणों को गायत्री मन्त्र, क्षत्रियों को त्रिष्टुभ

---

१. रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुच ँ राजषु नस्कृधि,
रुचं विश्ययेषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्।
तैत्तिरीय संहिता ५, ७, ६.

२. तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ब्रह्मणस्पतिरधिपतिरासीत्‥ पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यतेन्द्रोऽधिपतिरासीत्…नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यंवसृज्येतामहोरात्रे…॥
वही, ४, ३, १०

३. चत्वारि वाच एहीति ब्राह्मणस्यागह्याद्रवेति वैश्यस्य च राजन्यबन्धोश्चाधावेति शूद्रस्य… ।
शतपथ, १, १, ४, १२

४. वही १३, ८, ३, ११, प्रभु, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० २९५ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मन्त्र तथा वैश्यों को जगती मन्त्र का पाठ करना चाहिए।[१] ब्राह्मणों को गायत्री मन्त्र का प्रारम्भ 'भूः' से क्षत्रियों को 'भवः' से तथा वैश्यों को 'स्वः' से करना चाहिए।[२] यज्ञों के विषय में ब्राह्मणों के लिए वसन्त ऋतु, क्षत्रियों के लिए ग्रीष्म ऋतु तथा वैश्यों के लिये शरद् (autumn) का विधान तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है।[३] यज्ञ में प्रयुक्त लकड़ी भी पृथक् पृथक् वर्णों के अनुसार पृथक् पृथक् होनी चाहिए। ब्राह्मणों के लिए पलाश, क्षत्रियों के लिए न्यग्रोध तथा वैश्यों के लिए अश्वत्थ की लकड़ी विहित बताई गई है।[४] मन्त्र और यज्ञ-सम्बन्धी उपर्युक्त प्रसंगों में शूद्र का उल्लेख न होना यह बात स्वयं सिद्ध करता है कि सामान्यतया शूद्र धार्मिक अधिकारों से वंचित थे। उसके लिए तो यज्ञ में सम्मिलित होना भी वर्जित माना गया है। यदि वह धार्मिक कृत्यों में उपस्थित भी रहता था तो केवल उच्च वर्णों के पैर धोने के लिए।[५] उसकी उत्पत्ति भी चरण से बताई गई है। उसके देवता ही नहीं थे, अतः वह यज्ञ करता भी तो किसके लिए?[६] यज्ञादि कार्यों में लगे हुए व्यक्ति को उससे बात तक करना भी मना था और आवश्यकता पड़ने पर किसी के माध्यम से बात की जाती थी।[७]

---

१. ऐतेरेय, १, ५

२. शतपथ, २, १, ३, ४, प्रभु द्वारा पृ. २९५ पर उद्धृत।

३. वसन्तो ब्राह्मणोऽग्निमादधीत। वसन्तो वै ब्राह्मणस्यर्तुः।·· ग्रीष्मे राजन्य आदधीत। ग्रीष्मो वै राजन्यस्यर्तुः।···शरदि वैश्य आदधीत। शरद्वै वैश्यस्यर्तुः।
तैत्तिरीय ब्राह्मण, १, १,११-१२ देखिए शतपथ ब्राह्मण २ १,३, ४

४. शतपथ, ५, ३, २, ११ और आगे। प्रभु द्वारा पृ २०५ पर उद्धृत।

५. तैत्तिरीय संहिता, ७, १, १. प्रभु द्वारा पृ. २९६ पर उद्धृत।

६. पंचविंश ब्राह्मण, ६, १, ११, प्रभु द्वारा पृ. २९६ पर उद्धृत।

७. शतपथ ब्राह्मण, ३. १, १. प्रभु, वही, पृ. २९७ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे यज्ञ के लिए काम आने वाले दूध आदि को भी छूनामना था।[1] कवश ऐलुश को यज्ञ से बहिष्कृत कर दिया गया था, केवल इसलिए कि वह दासी का पुत्र था, लेकिन बाद में देवताओं को प्रसन्न कर, वह यज्ञ में सम्मिलित हो सका।[2] अपने को ब्राह्मण की संतान सिद्ध करने के लिए वत्स नामक एक व्यक्ति ने अग्नि परीक्षा दी और तब यज्ञ में उपस्थित हो पाया, ऐसी सूचना पंचविंश ब्राह्मण से मिलती है।[3]

उपनिषदों में वर्ण-व्यवस्था

उपनिषदों को वेदान्त (वेदों का अंत या वैदिक साहित्य की समाप्ति) कहा जाता है। उपनिषद् "किसी एक शताब्दी की रचना न होकर अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास के फल हैं।"[4] कुछ उपनिषद् बुद्ध और पाणिनी से भी पहले के हैं।[5] उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ है "किसी के पास बैठना" अर्थात् शिष्य का गुरु के पास बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। ये कृतियाँ मुख्यतः दार्शनिक हैं अतः इनमें वर्ण-व्यवस्था जैसे विषयों के सम्बन्ध में बहुत कम सूचना मिलती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णोत्पत्ति से सम्बन्धित एक प्रसंग में बताया गया है कि प्रगति के लिए चारों वर्ण अस्तित्व में आये।[6] छान्दोग्योपनिषद् में पूर्व जन्म के कर्मों को वर्ण का आधार बताया गया है।[7] इसी उपनिषद् से यह भी पता चलता है कि जानश्रुति पौत्रायन नामक

---

१. तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३, २, ३. प्रभु, वही, पृ० २९७ पर उद्धृत।

२. ऐतरेय ब्राह्मण २, १९.
   कौशितकी ब्राह्मण, १२, १, ३, प्रभु द्वारा पृ. २९७ पर उद्धृत।

३ पंचविंश ब्राह्मण, १४, ६, ६, प्रभु द्वारा पृ. २९७ पर उद्वृत।

४. बलदेव उपाध्याय, पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ. ४०

५. दि वेदिक एज, पृ० ४६७ और आगे।

६. बृहदारण्यक, १, ४, ११-५

७. छांदोग्य, ५, १०, ७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शूद्र[1] ने रैक्व नामक ऋषि को एक हजार गायें, हार, खच्चरियों से जुता हुआ रथ, पत्नी (ऋषि की भावी पत्नी) और उस ग्राम को दान करने का वचन दिया, जहाँ रैक्व रहते थे और उनसे धार्मिक शिक्षा प्राप्त की ।[2]

उपनिषदों में ऐसे उदाहरण अनेक हैं जो यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म विद्या केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित नहीं थी । प्रवाहण (क्षत्रिय) नामक राजा ने गौतम नामक ब्राह्मण को कुछ गंभीर विषयों का ज्ञान दिया ।[3] राजा ने कहा कि गौतम से पहले किसी भी ब्राह्मण को उस

---

१. वही, ४, खण्ड २ के अनुसार जानश्रुति पौत्रायन एक राजा था । जैसा कि शांकर भाष्य में स्पष्ट किया गया है वह शूद्र नहीं था । उसे शूद्र संभवत: इसलिए कहा गया है क्योंकि वह गुरु की सेवा-शुश्रूषा द्वारा नहीं अपितु केवल धन के द्वारा ही विद्या ग्रहण करने के लिए गया था ।

शूद्रवद्वा धनेनैतैनं विद्याग्रहणायोपजगाम न च शुश्रूषाया, न तु जात्यैव शूद्र इति । वही, ४, २, ३ पर शांकर भाष्य । रैक्व भी जन्मना ब्राह्मण नहीं थे ।

देखिये दि वेदिक एज, पृ० ४६९

२. वही, ४, खण्ड २–३

३. एक बार श्वेतकेतु नामक एक ब्राह्मण पाञ्चालों की सभा में गया । वहाँ प्रवाहण (क्षत्रिय राजा) ने उससे पूछा कि उसके पिता ने उसे शिक्षा दी है या नहीं ? "हाँ" उत्तर पाकर राजा ने उससे पाँच दार्शनिक प्रश्न पूछे, जिनका उत्तर श्वेतकेतु नहीं दे सका । उसने अपने पिता से जाकर यह सब बताया । पिता, गौतम, राजा के पास आये और राजा से उन्हीं प्रश्नों के विषय में जिज्ञासा प्रकट की । ब्राह्मण के बारम्बार कहने पर राजा ने गूढ़ विषयों की चर्चा की । छान्दोग्य, ५, खण्ड ३ और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्या की प्राप्ति नहीं हुई थी।[1] राजा अश्वपति भी आत्मा और ब्रह्म जैसे गूढ़ विषयों के ज्ञाता थे।[2]

इस प्रकार उपनिषदों में चार वर्णों के उल्लेख हैं, लेकिन जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है, उनमें कठोरता नहीं थी। शूद्र भी ज्ञान प्राप्त कर सकते थे।

बौद्ध साहित्य में वर्ण-व्यवस्था

बौद्ध साहित्य (Canonical Pali Literature) गौतम बुद्ध के महापरिनिर्वाण से बाद का है। संभवतः इसकी रचना ५ वीं शती ई. पू. से १ ली शती ई. पू में हुई।[3] जातकों की संख्या ५०० से अधिक है और इनमें बुद्ध के पूर्व जन्मों से संबंधित कथायें हैं। इनकी रचना संभवतः ३०० ई. पू से लेकर ईस्वी संवत् के प्रारम्भ तक हुई।[4] महावग्ग को और पहले का माना गया है।[5]

बौद्ध साहित्य में चारों वर्णों के तो अनेक उल्लेख हैं ही, एक अन्य वर्ग की भी सूचना मिलती है जिसमें चण्डाल और पुक्कस आदि थे। इन विभिन्न वर्गों को प्रायः 'जाति' कहा जाता था यद्यपि कभी-कभी इनके लिए 'वण्ण' या 'कुल' का भी प्रयोग किया जाता था।[6]

---

१. न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै हो वाच।
 वही, ५. ३, ७
२. वही, ५, ११ और आगे
३. दि एज ऑफ इम्पीरियल युनिटी, पृ० ४०७
४. वही, पृ० ४०५
५. वही
6. Fick : The Social organization in North East India. परशुराम चतुर्वेदी: बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृ, ५२ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विभिन्न वर्णों के आपसी संबंध और उनकी सामाजिक स्थिति (status) के विषय में बौद्ध साहित्य से कभी कभी विरोधी सूचना भी मिलती है।

विनय पिटक के अनुसार मोक्ष-प्राप्ति के बाद जातिगत भेद उसी प्रकार समाप्त हो जाते हैं जिस प्रकार समुद्र से मिलने के बाद नदियाँ अलग-अलग नहीं जानी जा सकतीं।[1] कोई व्यक्ति अपनी जाति नहीं, आचरण के कारण सम्माननीय हो सकता है।[2] सीलविमंस जातक में एक ब्राह्मण की कथा है। वह ब्राह्मण सदाचारी और शीलवान् था। एक बार ब्राह्मण ने यह जानना चाहा कि कोशल के राजा उसका सम्मान जाति, कुल, गोत्र और ज्ञान के कारण करते हैं, अथवा शील और सदाचरण के कारण। ऐसा सोच कर वह एक सर्राफ़ की दूकान से, बिना पूछे ही एक कार्षापण उठा लाया। अगले दिन दो कार्षापण उठाये और तब भी सर्राफ़ चुप रहा। तीसरे दिन उसने एक मुट्ठी भर कर कार्षापण उठा लिये। इस बार सर्राफ़ बर्दाश्त नहीं कर सका और शोर मचाने के बाद ब्राह्मण को राजा के पास पकड़ कर ले गया। राजा ने अफ़सोस करते हुए ब्राह्मण को दण्ड देने की आज्ञा दी। ब्राह्मण ने कहा 'महाराज! मैं चोर नहीं हूँ। मेरे मन में यह संदेह था कि आप मेरा सम्मान मेरी जाति के कारण करते हैं, अथवा मेरे आचरण के कारण। अब मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूँ कि शील ही उत्तम है और सम्मान का कारण भी है।'

इसी जातक में बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में भी एकदम ऐसी ही कथा है। बोधिसत्त्व वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त के पुरोहित थे।• उनका भी आचरण उपर्युक्त ब्राह्मण की ही तरह था। बोधिसत्त्व को पकड़ कर ले जाते हुए सँपेरे साँप को कभी गले में डालते और कभी पूँछ से

---

१. विनय पिटक, ९, १, ४

२. सीलविमंस जातक, संख्या ८६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पकड़ते थे। बोधिसत्त्व ने उन लोगों को ऐसा करने से मना किया। सँपेरे बोले, "हे ब्राह्मण ! यह सर्प शीलवान और सदाचारी है (तुम्हारी तरह दुराचारी नहीं है)। तुम तो अपने ही कामों के कारण चोर कहलाये हो और तुम्हें राजा के पास ले जाया जा रहा है।" बोधिसत्त्व ने, तब, शील का महत्त्व पहचाना।[1]

बौद्ध साहित्य में असवर्ण विवाह के पक्ष और विपक्ष, दोनों के उदाहरण मिलते हैं। कट्ठाहरि जातक में एक राजा के विषय में बताया गया है कि उसने लकड़ी चुननेवाली लड़की को अपनी पटरानी बनाया था।[2] सुजाता जातक में माली की लड़की को पटरानी बनाने का उल्लेख है।[3] शाक्य राजा और एक निम्नवर्णा कन्या का विवाह भी इसी प्रकार का था।[4]

खान-पान के सम्बन्ध में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध था अथवा नहीं, इसके विषय में भी एक मत का अभाव है। मातंग जातक के अनुसार एक ब्राह्मण ने चाण्डाल को उच्छिष्ट भोजन देना भी अस्वीकार किया। कालान्तर में उसे स्वयं उस चाण्डाल के घर खाना पड़ा[5]। माणवक नामक ब्राह्मण ने चाण्डाल का दिया हुआ भोजन नहीं खाया। अन्त में उसे खाना ही पड़ा; उसने प्रायश्चित्त किया और सबसे छिपकर एकान्त में मरा।[6] विधुर पण्डित ने सब वर्णों का छुआ चावल

---

१. सीलं किरेव कल्याणं सीलं लोके अनुत्तरम्।
यस्स घोरविसो नागो सीलवाति न हञ्ञति॥
वही
२. कट्ठाहरि जातक, संख्या ७
३. सुजाता जातक, संख्या ३०६
४. भद्दसाल जातक, संख्या ४६५
५. मातंग जातक, संख्या ४९७
६. सतधम्म जातक, संख्या १७९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

खाया ।[1] व्यवसाय सम्भवतः आनुवंशिक होते थे । खजाञ्ची का पुत्र खजाञ्ची[2] और सौदागर का बेटा सौदागर था ।[3]

सूत्रों में वर्ण-व्यवस्था

सूत्र काल में अत्यल्प अक्षरों में भावभरे सूत्रों की रचना की गयी। ये तीन प्रकार के हैं—श्रौत, गृह्य और धर्म । श्रौत सूत्रों से याग पद्धति की सूचना मिलती है। गृह्य तथा धर्म सूत्र तत्कालीन सामाजिक जीवन के अध्ययन के लिये उपयोगी हैं । इनमें संस्कारों, पंचमहायज्ञों और वर्णाश्रम-धर्म आदि विषयों का वर्णन मिलता है। इनकी रचना लगभग ६०० ई० पू० से ४०० ई० पू० में हुई थी ।[4]

सूत्रों से ज्ञात वर्ण-व्यवस्था की सर्वप्रमुख विशेषता ब्राह्मणों और शूद्रों के बीच की दूरी का बढ़ना है । वर्ण आनुवंशिकता पर आधारित थे । ब्राह्मण सर्वोच्च तथा शूद्र निम्नतम माने जाते थे । ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों के लिये उपनयन संस्कार की अनुमति थी, इसी कारण इन तीनों को सामूहिक रूप से द्विज (दो बार जन्म लेने वाले) कहा गया था । उपनयन संस्कार को दूसरा जन्म कहा गया था ।[5] विभिन्न वर्णों के लिये उपनयन संस्कार की अवस्था अलग-अलग थी । ब्राह्मण बालकों के लिये, ८, ९ या ५ वर्ष की अवस्था, क्षत्रिय बालकों के

---

१. विधुर जातक, संख्या ५४५

२. जातक, संख्या १३

३. वही.

४. बलदेव उपाध्याय : पूर्वोल्लिखित पुस्तक, पृ० ४९

५ तद्द्वितीयं जन्म ।। गौतम धर्मसूत्र, १, ९
तदुपनयनं द्वितीयं जन्म। अत्रास्य माता सावित्री पितात्वाचार्यः । तेन द्विजन्मत्वसिद्धिः ।।
उपर्युक्त पर मिताक्षरा टीका

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

लिये ११ वर्ष की अवस्था तथा वैश्य बालकों के लिये १२ वर्ष की अवस्था का विधान मिलता है ।[1] ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों का उपनयन संस्कार क्रमशः १६, २२ और २४ वर्ष की अवस्था तक हो जाना आवश्यक समझा जाता था ।[2] वसिष्ठ ने ८, ११ और १२ वर्ष की अवस्था का विधान किया और कहा है कि यह संस्कार तीनों वर्णों के लिये १६, २२ और २४ वर्ष तक अवश्यमेव हो जाना चाहिये ।[3] शूद्र के लिये यह संस्कार वर्जित था। विभिन्न वर्णों के लिये अलग-अलग अवस्था का मनोवैज्ञानिक आधार था। गुण और कर्मों को वर्ण का आधार माना गया था। इसके अनुसार ब्राह्मणों की बुद्धि अधिक तीव्र मानी जाती थी क्योंकि उनमें सत्त्वगुण प्रधान था। इसीलिये ब्राह्मण बालक का सबसे छोटी, क्षत्रिय का उससे बड़ी और वैश्य का उपनयन संस्कार सबसे बड़ी अवस्था में सम्पन्न होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य ब्रह्मचारियों के लिये क्रमशः सात, तीन व दो घरों से भिक्षा माँगने का विधान था।[4]

तीनों के दण्ड (डण्डे) भी अलग-अलग लकड़ियों के होते थे। ब्राह्मण का दण्ड पलाश का, क्षत्रिय का न्यग्रोध का और वैश्य का उदु-

---

१. उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टमे ।। नवमे पञ्चमे वा काम्यम् ।। गर्भादि संख्यावर्षाणाम् ।। ...एकादशद्वादशयोः क्षत्रियवैश्ययोः ।।
वही, ६-८, १२

२. आषोडशाद्ब्राह्मणस्या पतिता सावित्री ।। द्वाविंशते राजन्यस्य द्व्यधिकायावैश्यस्य ।। वही, १३—४

३. गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत ।। गर्भादेकादशेषु राजन्यम् ।। गर्भाद्द्वादशेषु वैश्यम् ।। ... आषोडशाद्ब्राह्मणस्य नातीतः कालः ।। आ द्वाविंशात्क्षत्रियस्य ।। आ चतुर्विंशाद्वैश्यस्य ।।
वसिष्ठ धर्मशास्त्र, ११, ४९—५१, ७१—३

४. कौशिक गृह्यसूत्र, १, २२, ६—७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वर का उचित माना गया था।[1] मेखला[2] और भिक्षा मांगने[3] के लिए प्रयुक्त सम्बोधन भी पृथक् पृथक् थे।

चारों वर्णों के विशिष्ट धर्मों की चर्चा भी सूत्रों में मिलती है। अध्ययन, यज्ञ करना और दान देना तीनों द्विज वर्णों के लिये समान रूप से विहित थे। इनके अतिरिक्त अध्यापन, दूसरों के यज्ञ करवाना और दान लेना ब्राह्मणों के, खेती और व्यापार वैश्यों के तथा रक्षा करना क्षत्रियों के काम बताये गये हैं।[4]

वसिष्ठ ने ब्राह्मणों के ६ कर्मों का उल्लेख किया है—स्वाध्याय, अध्यापन, यज्ञ करना, यज्ञ करवाना, दान और प्रतिग्रह। क्षत्रियों के कर्त्तव्य हैं अध्ययन, यज्ञ करना, दान देना और शस्त्र द्वारा प्रजा-पालन करना तथा वैश्यों के लिये कृषि, पशु-पालन और ब्याज पर धन देना। शूद्र की आजीविका के लिये परिचर्या (द्विजों की सेवा) को विहित बताया गया है।[5]

---

१. पालाशो वा दण्डो ब्राह्मणस्य ॥ नैय्यग्रोधः क्षत्रियस्य वा ॥ औदुम्बरो वा वैश्यस्य ॥ वसिष्ठ धर्मशास्त्र, ११, ५२—४

२. मौञ्जी रशना ब्राह्मणस्य ॥ धनुर्ज्या क्षत्रियस्य ॥ शणतान्तवी वैश्यश्य ॥ वही, ११, ५८—६०

३. भवत्वपूर्वां ब्राह्मणो भिक्षां याचेत् ॥ भवन्मध्यां राजन्यः ॥ भवदन्त्यां वैश्यः ॥ वही, ११, ६८—७०

४. द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् ॥ ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः कृषिवाणिज्ये वाऽस्वयंकृते ॥ कुसीदं च ॥ राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ॥ गौतम धर्मसूत्र, १० २, ५—७

५. षट्कर्माणि ब्राह्मणस्य ॥ स्वाध्यायाध्ययनमध्यापनं यज्ञो यजनं दानं प्रतिग्रहश्चेति ॥ त्रीणि राजन्यस्य ॥ अध्ययनं यज्ञो दानं च ॥ शस्त्रेण च प्रजापालनं स्वधर्मस्तेन जीवेत् ॥ एतान्येव वैश्यस्य ॥ कृषिर्वाणिज्यं पशुपाल्यं कुसीदं च ॥ तेषां परिचर्या शूद्रस्य नियता च वृत्तिः ॥ वसिष्ठ धर्मशास्त्र, २, १३-२०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वधर्म के अतिरिक्त सूत्रों में आपद्धर्म[1] और विभिन्न जातियों की उत्पत्ति[2] आदि विषयों की भी चर्चा मिलती है और तत्संबंधी सामग्री का प्रयोग इस अध्याय में तत्संबंधी विषयों का अध्ययन करते समय किया गया है।

महाकाव्यों में वर्ण-व्यवस्था

महाकाव्य दो हैं—वाल्मीकि की रामायण जिसे आदि काव्य कहा जाता है और महाभारत। दोनों का ही मौलिक स्वरूप, उनके वर्त्तमान स्वरूप से भिन्न था। रामायण की रचना महाभारत से पहले हुई थी, ऐसी विद्वानों की धारणा है।[3] इसका समय चौथी शती ई० पू० से दूसरी शती ई० के मध्य में रक्खा गया है।[4] महाभारत को "तिथि-हीन" ("dateless")[5] महाकाव्य कहा गया है। कई शताब्दियों (संभवत: ४०० ई० पू० से ४०० ई०) का समय इसको अपने वर्त्तमान आकार तक पहुँचने में लगा होगा।[6] इसी कारण इसमें एक ही विषय पर भिन्न मत और कभी-कभी तो परस्पर विरोधी प्रसंग भी मिलते हैं जो इसके लम्बे रचना-काल को देखते हुए क्षम्य हैं।

वाल्मीकि ने दशरथ द्वारा शासित अयोध्या के उत्कर्ष का वर्णन किया है और बताया है कि वहाँ सब लोग यथोचित् स्वधर्म का पालन करते थे और वर्णसंकर कोई नहीं था।[7] लोग वर्ण-शुद्धि का ध्यान रखते थे। ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था और शूद्रों का निम्नतम।

१, वही, २, २२ और आगे

२, बौधायन धर्मसूत्र, ८, १ और आगे

३. बलदेव उपाध्याय, पृ० ६९ और आगे

४. दि वैदिक एज, पृ० २५४

५. सुक्थंकर: ऑन दि मीनिंग ऑफ़ दि महाभारत, पृ० ३२

६. जौहरी: पौलिटिक्स एण्ड एथिक्स इन एन्शण्ट इण्डिया, पृ० २४ और आगे

७. रामायण, बालकाण्ड, ६, १२–३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

समाज में दूसरी श्रेणी क्षत्रियों और तीसरी, वैश्यों की थी। क्षत्रिय ब्राह्मणों की सेवा करते थे, वैश्य क्षत्रियों की, और स्वकर्म का पालन करते हुए शूद्र तीनों वर्णों की सेवा में लगे रहते थे।[1]

राजा ब्राह्मणों और क्षत्रियों का विशेषरूप से ध्यान रखते थे।[2] पुत्रहीन दशरथ ने पुत्र-प्राप्ति के लिये वाजिमेध यज्ञ का निश्चय ब्राह्मणों और मंत्रियों की अनुमति और सम्मति प्राप्त कर, किया।

वर्ण-परिवर्त्तन की संभावना भी रामायण से ज्ञात होती है। विश्वामित्र का उदाहरण इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है।[3] विश्वामित्र ने वसिष्ठ की गाय का अपहरण कर लिया था। दुःखिता गाय ने सेना उत्पन्न की, जिसने विश्वामित्र के पुत्रों और सैनिकों को नष्ट कर दिया। तब विश्वामित्र ने शिव को प्रसन्न कर दिव्यास्त्रों की प्राप्ति की और उनका प्रयोग ब्राह्मण वसिष्ठ के प्रति किया। वसिष्ठ ने ब्रह्मदण्ड से उनका शमन किया और विश्वामित्र उन्हें कोई भी क्षति नहीं पहुँचा सके। वसिष्ठ का ब्रह्मबल देख, विश्वामित्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्ति के लिए तप किया और अपने लक्ष्य में सफल हुए। इस प्रकार वहाँ ब्रह्म-बल को क्षत्र-बल की अपेक्षा श्रेष्ठ बताया गया है।[4]

महाभारत को उसके आकार और महत्त्व के कारण "विश्वकोष" और अपने में एक "पूर्ण साहित्य" कहा गया है। धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र,

---

१. क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥ वही, ६, १९.

२. वही, ७, १३

३. वही, बाल काण्ड, अध्याय ५४–६५। देखिये पीछे,
पृ० ११, पाद टिप्पणी ६।

४. क्व च ते क्षत्रियबलं क्व च ब्रह्मबलं महत्।
पश्य ब्रह्मबलं दिव्यं मम क्षत्रियपांसन॥
वही, बालकाण्ड, ५६, ४

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कामशास्त्र और मोक्ष से सम्बन्धित, प्रत्येक विषय को इसमें चर्चित मानते हुए कहा गया है कि जो कुछ इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।[1] वर्ण-व्यवस्था के विषय में इससे बहुत अधिक और कहीं-कहीं तो परस्पर विरोधी सूचना भी मिलती है।

महाभारत में वर्णों की पौराणिक उत्पत्ति के साथ-साथ गुण व कर्म के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है। कहीं कर्म और कहीं जन्म को आधार रूप में स्वीकार किया गया है। सामान्यधर्म, स्वधर्म, आपद्धर्म तथा वर्णसंकर के विषय में पर्याप्त सूचना मिलती है, जिसका उपयोग विभिन्न स्थानों पर किया गया है और जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत में वर्ण-व्यवस्था के सभी पहलू वर्तमान हैं।

महाकाव्यों के समान स्मृतियों और पुराणों में भी वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित, उपर्युक्त सभी विषयों का उल्लेख किया गया है। वहाँ अधिकांशतः जन्म को ही वर्ण का आधार मानते हुए ब्राह्मणों को सर्व-श्रेष्ठ तथा शूद्रों को निम्नतम कहा गया है। विवाह और व्यवसाय सम्बन्धी प्रतिबन्धों तथा चारों वर्णों की सामाजिक स्थिति में ऊँच-नीच का भेद यह स्पष्ट कर देता है कि पूर्व वैदिक काल और उसके परवर्ती कालों में वर्ण-व्यवस्था के स्वरूप में बड़ा अन्तर आया। जैसा कि वर्णोत्पत्ति सम्बन्धी उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट हो गया है इनकी उत्पत्ति संभवतः समाज की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए हुई होगी। प्रारम्भ में सब समान माने जाते थे और विवाह तथा व्यवसाय के क्षेत्र में स्वतन्त्रता थी। कालान्तर में आनुवांशिकता के आधार पर वर्ण निश्चित किये जाने लगे। बुद्धिचातुर्य के कारण

---

१. धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्॥

महा, आदि, ६७, ५३। यही श्लोक स्वर्गारोहण, ५, ५० में भी है। आदि, १, ४–५ भी देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मणों ने इसका पूरा लाभ उठाया। शास्त्र बल की सहायता से वे अपने को सर्वश्रेष्ठ बनाने में सफल हो गये।

वर्ण-धर्म

प्राचीन भारतीय विचारक धर्म या कर्त्तव्य का निर्धारण करते समय देश अर्थात् स्थान, काल अर्थात् समय या परिस्थिति और पात्र अर्थात् वह व्यक्ति या वर्ग जिसके धर्म की चर्चा की जा रही हो, ध्यान रखते थे। उन्होंने धर्म के दो प्रकार बताये—सामान्य धर्म, जो देश, काल व पात्र के परिवर्तित होने पर भी अपरिवर्तित रहे और विशिष्ट धर्म, जो देश, काल व पात्र के अनुरूप परिवर्तित होता हो। सामान्य धर्म के उदाहरण के रूप में सत्य, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-संयम), अपरिग्रह, दया, दान आदि नैतिक गुणों का उल्लेख किया जा सकता है। वर्ण-धर्म (चारों वर्णों के लिये विहित धर्म), आश्रम-धर्म (चारों आश्रमों के लिये बताये गये कर्त्तव्य), गुण-धर्म (किसी विशेष पद पर होने के कारण जो कर्तव्य बताये गये हों, जैसे राजा के कर्त्तव्य), नैमित्तिक धर्म (विशेष प्रयोजन से किये जानेवाले कार्य, जैसे प्रायश्चित), युग-धर्म (विभिन्न युगों के धर्म) और आपद्धर्म (आपत्ति काल के लिये विहित आचार) आदि को दूसरे प्रकार के अंतर्गत समाविष्ट किया जा सकता है।

विभिन्न वर्णों के लिये, सामान्य परिस्थितियों में सामान्य धर्म के अतिरिक्त, कुछ विशेष धर्मों का भी विधान किया गया था, जिनके आधार के रूप में गुण और कर्म की चर्चा मिलती है।[1] सत्वगुणप्रधान होने के कारण ब्राह्मणों के स्वभाव और रजोगुणप्रधान क्षत्रियों के स्वभाव में भिन्नता अनिवार्य थी। वैश्यों, और शूद्रों में क्रमशः रज व तम तथा तम गुण प्रधान थे। गुणों के अनुसार, उन पर आधारित

१. ब्राह्मणक्षत्रियविशानां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैः गुणैः ॥ महा, भीष्म, ४२, ४१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्वभाव और कर्म की भिन्नता की कल्पना उचित है। इसी कारण चारों वर्णों के धर्म पृथक् पृथक् हैं।

ब्राह्मण-धर्म

ब्राह्मण की उत्पत्ति, पौराणिक कथाओं के अनुसार, विराट् पुरुष अथवा ब्रह्मा के सिर से मानी गयी है और इसी कारण समाज में उसका स्थान भी सर्वोपरि माना जाता था और उसके कर्त्तव्य बुद्धि से संबंधित थे। ब्राह्मण के लिये यह धर्म बताया गया है कि वह सामान्य नैतिक गुणों के साथ-साथ इन विशिष्ट धर्मों का पालन करे। गौतम धर्मसूत्र[१] के अनुसार प्रवचन देना, यज्ञ करना और दान स्वीकार करना ब्राह्मणों के लिये उचित है। आपस्तंब धर्मसूत्र[२], बौधायन धर्मसूत्र[३] और वसिष्ठ धर्मशास्त्र[४] से भी ब्राह्मण-धर्म के विषय में सूचना मिलती है।

महाभारत में ब्राह्मणों की विशेषताओं की चर्चा करते हुए भृगु ने भारद्वाज से कहा कि ब्राह्मण वह है, जो जातकर्मादि विभिन्न संस्कारों द्वारा सुसंस्कृत हो, पवित्र हो, वेदाध्ययन करता हो, षट् कर्म करता हो,[५] अच्छे आचरण वाला हो, व्रत करने वाला हो और सत्यवादी

---

१. द्विजातिनामध्ययनमिज्या दानम्। ब्राह्मणस्याधिकाः प्रवचनयाजनप्रतिग्रहाः। पूर्वेषु नियमस्तु। २, १, १—३.
ब्रह्म वै स्वं महिमानं ब्राह्मणेष्वदधादध्ययनाध्यापनयजनयाजनदानप्रतिग्रहसंयुक्तं वेदानां गुप्त्यै॥ बौधायन धर्मसूत्र, १, १०, २.

२. २, ५, १०, ५-८.

३. १, १०, २-५.

४. २, १३-९.

५. टीकाकार नीलकण्ठ के अनुसार षट्कर्म (६ कर्म) इस प्रकार हैं:—
'संध्या स्नानं जपो होमो देवतानां च पूजनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च षट्कर्माणि दिने दिने' इति॥
महा, शांति, १८९, २ पर टीका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हो ।[१] महाभारत में अनेक स्थानों पर[२] ऐसे प्रसंग मिलते हैं। भगवद्-गीता, जो महाभारत का एक अंश है, शांति, इन्द्रिय-दमन, तपस्या, पवित्रता, क्षमाशीलता, मृदुता, ज्ञान, विज्ञान तथा ईश्वर में विश्वास को ब्राह्मणों के स्वाभाविक कर्त्तव्य बताती है ।[३]

महाभारत के शांति पर्व में एक स्थान से ऐसी सूचना मिलती है कि युधिष्ठिर ने भीष्म पितामह से चारों वर्णों के विशिष्ट धर्म के विषय में जिज्ञासा प्रकट की। भीष्म ने कहा कि क्रोध न करना, सत्य, (धन को) बाँट कर भोगना, क्षमा, अपनी पत्नी से ही सन्तान की उत्पत्ति करना, पवित्रता, अद्वेष, कोमलता और अपने आश्रितों का पालन-पोषण करना, ये नौ बातें सब वर्णों के लिये विहित हैं। स्वकर्म से प्राप्त धन से ही जीविका चलाना, यज्ञ करना, बाँट कर ही धन का उपयोग करना (अर्थात् अपनी धार्मिक और सांसारिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये जितना धन आवश्यक हो, उसे ही रक्खे) और समस्त प्राणियों के साथ मित्रता रखना (अर्थात् किसी का द्रोह न

---

१. जातकर्मादिभिर्यस्तु संस्कारैः संस्कृतः शुचिः ।
वेदाध्ययनसम्पन्नः षट्सु कर्मस्ववस्थितः ।।
शौचाचारस्थितः सम्यग्विघसाशी गुरुप्रियः ।
नित्यव्रती सत्यपरः स वै ब्राह्मण उच्यते ।।
वही, १८९, २-३.

२. वही, उद्योग, ४३, २० और आगे;
शांति, अध्याय ६२-३, २३४; ३२६, १३ और आगे;
अनुशासन, १४१, ६७-९.

३. शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ।।
वही, भीष्म, ४२, ४२.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करना) आदि वे बातें हैं, जिनका विधान ब्राह्मणों के लिये विशेषतया किया गया है।[1]

उद्योग पर्व में विदुर ने भी ब्राह्मणों के इन्हीं धर्मों का उल्लेख किया है। उनके शब्दों में, "नियमानुसार स्नान और और आचमन करने वाला, यज्ञोपवीत पहनने वाला, स्वाध्याय करने वाला, पतित[2] लोगों के अन्न को न खाने वाला, सत्य बोलने वाला और गुरु की सेवा करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मलोक से पतित नहीं होता।"[3]

---

१. अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा।
प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च॥
आर्जवं भृत्यभरणं नवते सार्ववर्णिकाः।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम्॥
दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते॥
तं चेद्द्विजमुपागच्छेद्वर्त्तमानं स्वकर्मणि।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम्॥
कुर्वीतापत्यसन्तानमथो दद्याद्यजेत च।
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते॥
परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः।
कुर्यादन्यत्र वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥
वही, शांति ६०, ७-१२.

२. पतित का निश्चित तात्पर्य यहाँ नहीं बताया गया है। टीकाकार नीलकण्ठ भी इस विषय में मौन हैं। संभवतः नैतिक दृष्टि से गिरे हुए या जाति-भ्रष्ट व्यक्तियों की ओर संकेत है।

३. नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्नवर्जी।
सत्यं ब्रुवन् गुरवे कर्म कुर्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात्॥
वही उद्योग, ४०, २५.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मनुस्मृति के अनुसार चारों वर्णों की उत्पत्ति करने के बाद ब्रह्मा ने उनके कर्त्तव्य कर्म निश्चित किये। ब्राह्मणों के लिए पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना (अपने लिए), यज्ञ कराना (दूसरों के लिए) दान देना और दान ग्रहण करना विहित माने गये।[1] ब्रह्म के ध्यान में लीन ब्राह्मणों को अपने कर्तव्यों को करते रहना चाहिए। इन ६ कर्त्तव्यों में याजन, अध्यापन और प्रतिग्रह उनकी आजीविका के साधन माने गये हैं।[2]

क्षत्रिय-धर्म

समाज में ब्राह्मणों के बाद क्षत्रियों का स्थान था। ब्राह्मण शास्त्र बल से युक्त थे और क्षत्रियों की विशेषता थी उनका शस्त्र बल। अतः क्षत्रियों के कर्तव्य ब्राह्मणों से भिन्न थे। गौतम धर्मसूत्र के अनुसार अध्ययन करना, यज्ञ करना और दान देना द्विज वर्णों[3] के लिये समान

१. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥
मनु, १, ८८.

२. ब्राह्मणा ब्रह्मयोनिस्था ये स्वकर्मण्यवस्थिता।
ते सम्यगुपजीवेयुः षट् कर्माणि यथाक्रमम्॥
अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव षट्कर्माण्यग्रजन्मनाम्॥
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाश्च प्रतिग्रहः॥
वही, १०, ७४—६.

३. द्विज शब्द का अर्थ है 'जिसके दो जन्म हों' जैसे दाँत, जो दो बार निकलते हैं, पक्षी, जिनके दो जन्म होते हैं, एक अण्डे तथा दूसरा बच्चे के रूप में। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य वर्णों के उपनयन संस्कार को उनका दूसरा जन्म माना गया है। शूद्र के लिये

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

रूप से बताया गया है लेकिन रक्षा से सम्बन्धित कार्य, क्षत्रियों के लिए विशेष रूप से विहित हैं ।[1]

भगवद्गीता के अनुसार पराक्रम, तेज, धैर्य, कुशलता, युद्ध क्षेत्र से न भागना, दान देना, ईश्वर भाव अर्थात् स्वयं को सबका रक्षक समझने का भाव, ये क्षत्रियों क स्वाभाविक कर्म है ।[2] शांति पर्व में उसे क्षत्रिय कहा गया है, जो युद्धादि कार्यों में लगा रहे, वेदाध्ययन करे और दान दे, ले नहीं[3] । उद्योग पर्व में विदुर के अनुसार वेदों का अध्ययन करने वाला, यज्ञादि करने वाला, प्रजा-पालन करने वाला, गाय व ब्राह्मण (की रक्षा या सहायता) के लिये शस्त्र प्रयोग से अपनी

उपनयन की अनुमति नहीं थी, अतः वे द्विज के अन्तर्गत् नहीं समाविष्ट किये गये ।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थः एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः ।।
वही, १०, ४.

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः ।।
याज्ञवल्क्य, १, १०.

१. द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् ।...राज्ञोऽधिकं रक्षणं सर्वभूतानाम् ।
गौतम, १०, १, ७.

२. शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रकर्मस्वभावजम् ।।
महा, भीष्म ४२, ४३.

३. क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसंगतः ।
दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ।।
वही, शान्ति, १८९, ५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आत्मा को शुद्ध करने वाला और युद्ध में मृत्यु को प्राप्त करने वाला क्षत्रिय स्वर्ग-प्राप्ति करता है।[1]

मनु ने भी क्षत्रियों के लिये इन्हीं कर्त्तव्यों का विधान किया है। उनके शब्दों में ब्रह्मा ने प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ तथा अध्ययन में आसक्त और विभिन्न सांसारिक विषयों में अनासक्त रहना क्षत्रियों के लिये विहित बताया।[2] दसवें अध्याय में अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह को क्षत्रियों के लिये वर्जित बताते हुए शस्त्रास्त्र को उनकी आजीविका का साधन और रक्षा को उनका प्रमुख धर्म बताया गया है।[3]

ऐसे कई प्रमाण है जिनसे पता चलता है कि क्षत्रिय स्वाध्याय की ओर समुचित ध्यान देते थे। और कई क्षत्रिय राजाओं को दार्शनिक ज्ञान में विशेषता भी प्राप्त थी। उदाहरणार्थ, याज्ञवल्क्य ने

---

१. अधीत्य वेदान् परिसंस्तीर्य चाग्नी-
निष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वा प्रजाश्च।
गोब्राह्मणार्थं शस्त्रपूतान्तरात्मा
हतः संग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति॥
वही, उद्योग, ४०, २६.

२. प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
मनु, १, ८९.

३. त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः॥
शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययन यजिः॥
वही, १०, ७७, ७९.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राजा जनक से[१], जिन्होने वेदोपनिषदों का अध्ययन किया था,[२] बालाकि गार्ग्य ने राजा अजातशत्रु से[३], श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रवाहण जैवालि से और[४] कुछ ब्राह्मणों ने अश्वपति से[५] ज्ञान प्राप्त किया।

राजाओं को यह सलाह दी जाती थी कि वे यज्ञ करें।[६] ऐसे उदाहरण भी अनेक हैं जिनसे पता चलता है कि राजा लोग यज्ञ करवाते थे। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर,[७] गय,[८] महाभिष[९], सुहोत्र[१०], सृञ्जय[११], सोम[१२], अवीक्षित[१३], तथा ययाति[१४] ने यज्ञ करवाये।

---

१. शतपथ ब्राह्मण, ११, ६, २१, ५.
२. बृहदारण्यकोपनिषद्, ४, २, १.
३. वही, २, १.
४. छान्दोग्य उपनिषद, ५, ३.
५. वही, ५, ११
६. महायज्ञैः यजस्व बहुदक्षिणैः। महा, शांति, २०, ५; दानशीलो भवेद्राजा यज्ञशीलश्च भारत। वही, ७५, २; यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यम्। वही, ८६, २३। देखिये वही, सभा, १२, २५; १३, ३०; शांति, १५, ५३; १६, २८-९; २४, ७; ७५, २५; अनुशासन, १०२, ४१; १६५, १०; आश्वमेधिक, १३, १९; मत्स्य पुराण, २१५, ५७; शुक्र, १, १२३; जौहरी: पौलिटिक्स एण्ड एथिक्स इन एन्शण्ट इण्डिया, पृ. १६५-६.
७. महा, आदि, १, १३०.
८. वही, वन, ९४, १९-२०.
९, वही, आदि, ९६, १-२.
१०. वही, द्रोण, ५६, १०
११. वही, द्रोण, ६९, १०
१२. वही, शल्य, ४३, ४७.
१३. वही, आश्वमेधिक, ४, २२.
१४. वही, आदि, ७४, ४१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पालन शब्द का अर्थ विस्तृत है। इसका तात्पर्य भरण, पालन और रक्षण सभी से है। प्रजा-पालन क्षत्रियों का सामान्य रूप से और राजाओं का विशेष रूप से कर्त्तव्य समझा जाता था,[1] क्योंकि ऐसा करने से धर्म[2] स्वर्ग[3] और परलोक में सुख की[4] प्राप्ति संभव थी[5]।

वीरतापूर्वक युद्ध करना भी क्षत्रियों का एक महत्वपूर्ण कर्त्तव्य था। महाभारत संग्राम के विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अपने प्राणों की परवाह न करते हुए सैनिकयुद्ध में भाग लेते थे। उनके मन में यह भावना भर दी जाती थी कि घर में क्षत्रियों की मृत्यु प्रशस्त नहीं थी[6] और युद्ध करते करते मृत्यु प्राप्त करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती थी।[7]

---

१. क्षत्रियस्य परमो धर्मः प्रजानामेव पालनम्। मनु, ७, १४४
नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम्। शुक्र, १, १४

२. धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यते पालने रतः।
महा, शान्ति, ६६, ३९। देखिये वही ७१, २४; शुक्र, १, ९६.

३. प्रजापालनदक्षस्य स्वर्गलोको भविष्यति।
महा, अनुशासन, १४८, ४९.
प्रेत्य स्वर्गमवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन्।
वही, आश्रमवासिक, ६, १९.

४. पालयित्वा तथा पौरान् परत्र सुखमेधते। वही, शान्ति, ६९, ७२.

५. देखिये जौहरी : पौलिटिक्स ऐण्ड एथिक्स इन एन्शण्ट इंडिया, पृ. १५४ और आगे।

६. न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते। महा, शान्ति, ९७, २५

७. श्रेयस्तु मरणं युद्धे। वही, विराट, ३७ २४
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्। वही, भीष्म २६, ३७
विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य, जौहरी : पूर्वोल्लिखित कृति पृ. २६६–७२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैश्य धर्म

महाभारत के उद्योग पर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा कि वह वैश्य मृत्यूपरान्त स्वर्ग में विभिन्न प्रकार के सुखों का उपभोग करता है जो वेदाध्ययन करता है, ब्राह्मणों और क्षत्रियों को आर्थिक सहायता देता हैं और यज्ञों को करने पर अग्नि के पवित्र धुंए को सूंघता अर्थात् यज्ञ करता है।[१] भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण के अनुसार कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वैश्यों के स्वभाविक कर्म हैं[२]। वन पर्व से भी ऐसी ही सूचना मिलती है।[३] युधिष्ठिर ने भीष्म से जब वर्ण-धर्म के विषय में जिज्ञासा व्यक्त की, तो भीष्म ने वैश्यों के लिए विहित कर्त्तव्य इन शब्दों में बताए, 'दान देना, स्वाध्याय करना, यज्ञ करना और पवित्रतापूर्वक धन का संचय करना (अर्थात् न्यायोचित साधनों से धन एकत्रित करना, उदाहरणार्थ ईमानदारी से व्यापार करना) और पशुओं का उसी प्रकार ध्यान रखना जिस प्रकार पिता अपने पुत्रों का रखता है। पशु-पालन वैश्यों का, ब्रह्मा द्वारा निर्दिष्ट, कर्त्तव्य है। पशुओं की सृष्टि करने के बाद ब्रह्मा ने उनकी देख-रेख का भार वैश्यों के ऊपर छोड़ दिया था। अतः उसे पशु-पालन से कभी भी विमुख नहीं होना चाहिए।'[४]

---

१. वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान् क्षत्रियाँश्च धनैः काले संविभज्याश्रिताँश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥
महा, उद्योग, ४०, २७.

२. कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्।
वही, भीष्म, ४२, ४४

३. वही, वन, २०७, ७५ (गीता प्रेस संस्करण)

४, वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम्।
दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसञ्चयः ॥
पितृवद् पालयेद् वैश्यो युक्तः सर्वान् पशूनिह।
विकर्म तद् भवेदन्यत् कर्म यत्स समाचरेत् ॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाभारत से ही यह भी सूचना मिलती है कि दूसरे के पशुओं का पालन करने पर, वार्षिक वेतन के रूप में, उन्हें कुछ विशेष छूट दी जाती थी, जैसे किसी की ६ गायों की देख-भाल करने पर उसे एक गाय का दूध, अपने प्रयोग में लाने की स्वतंत्रता थी। इसी प्रकार खेती भी उनकी आजीवका का एक प्रमुख साधन था और दूसरों की फसलों या बीजों की व्यवस्था करने पर उन्हें कुछ निश्चित अंश पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता था।[1]

मनुस्मृति ने पशु-पालन, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन, व्यापार, व्याज पर धन उधार देना तथा खेती करना, इन कामों को ब्रह्मा के द्वारा निर्दिष्ट, वैश्यों के कर्त्तव्य के रूप में उल्लिखित किया है।[2] दसवें अध्याय में वैश्यों के लिए अध्यापन अर्थात् दूसरों को पढ़ाना, याजन अर्थात् दूसरों के यज्ञ में पुरोहित का काम करना और प्रतिग्रह अर्थात् दूसरों द्वारा दिये गये दान को स्वीकार करना, इन्हें वर्जित

रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ।।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ।
वही, शांति, ६०, २१-३, २६.
विट्स्वध्ययनयजनदानकृषिवाणिज्यपशुपालनसंयुक्तः
कर्मणा वृद्ध्यै ।। बौधायन, १, १०, ४.

१. षण्णामेकां पिबेद् धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृंगे कलां खुरे ।।
सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ।
वही, शांति, ६०, २५-६.

२. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च ।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ।।
मनु १, ९०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बताया गया है और वैश्यों की आजीविका के साधन के रूप में व्यापार, पशु-पालन तथा खेती का उल्लेख किया गया है।[१]

शूद्र-धर्म

चारो वर्णों को विभिन्न अवयवों से उत्पन्न बताने वाले सिद्धान्त के अनुसार शूद्र को चरणोत्पन्न माना गया है। अतः समाज में उसका स्थान निम्नतम था और ब्रह्मा ने उसे ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का सेवक बनाया। इन्हीं तीनों वर्णों की सेवा करना उसका प्रमुख कर्त्तव्य था और इसे करने से ही उसे (स्वधर्म का पालन करने के कारण) अत्यधिक सुख मिल सकता था। धन का संचय करना उसके लिये वर्जित था। इसका एक संभव कारण यह प्रतीत होता है कि धनी होने पर वह अपने को हीन न समझता और सेवा का कार्य उसे पसद ही न आता। जहाँ एक ओर शूद्र को ऐसी सीख दी गयी है, वहीं दूसरी ओर द्विजों से भी कहा गया है कि वे शूद्रों का उचित भरण पोषण करना अपना कर्त्तव्य समझें। उन्हें चाहिये कि वे अपने द्वारा इस्तेमाल की हुई पुरानी चीजें, जैसे छाता, पगड़ी, जूता, पंखा तथा फटे पुराने वस्त्र आदि सेवा-रत शूद्रों को दे डालें।[२]

महाभारत के उद्योग पर्व में विदुर ने धृतराष्ट्र से बताया कि वह शूद्र स्वर्ग-प्राप्ति करता है जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन

---

१. त्रयो धर्मा निवर्तन्ते ब्राह्मणात्क्षत्रियं प्रति।
अध्यापनं याजनं च तृतीयश्च प्रतिग्रहः॥
वैश्यं प्रति तथैवैते निवर्तेरन्निति स्थितिः।
न तौ प्रति हि तान्धर्मान्मनुराह प्रजापतिः॥
शस्त्रास्त्रभृत्वं क्षत्रस्य वणिक्पशुकृषिर्विशः।
आजीवनार्थं धर्मस्तु दानमध्ययनं यजिः॥
वही, १०, ७७—९.

२. महा, शान्ति, ६०, २८—३५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

तीनों द्विज वर्णों की पूजा करता है, अर्थात् उनकी समुचित सेवा करता और उन्हें संतुष्ट रखता है।[१] भीष्म पर्व में श्री कृष्ण ने, शूद्रों के स्वाभाविक कर्मों की चर्चा करते हुए, द्विज-सेवा का उल्लेख किया है।[२] वन पर्व में भी ऐसा ही कहा गया है।[३]

शूद्र का स्वामी के प्रति और स्वामी का शूद्र के प्रति क्या कर्त्तव्य होना चाहिए, इस संबंध में शांति पर्व से एक महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। वहाँ कहा गया है कि निःसन्तान स्वामी का श्राद्ध करना, सेवक शूद्र का कर्तव्य था, इसी प्रकार निर्धन या असमर्थ स्वामी के परिवार को आर्थिक सहायता देना भी उसके लिये उचित था। ऐसा करते समय शूद्र को यह समझना चाहिए कि उसके पास जो कुछ भी है, उसके स्वामी का ही है। आवश्यकता पड़ने पर, किसी भी तरह की हिचकिचाहट के बिना, वह भक्तिपूर्वक सेवा कार्य करे।[४] मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्मा ने, चारों वर्णों को बनाने के साथ ही, उनके धर्म

---

१. ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः
क्रमेणैतान्नायतः पूजयानः।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपाप-
स्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुंक्ते॥
वही, उद्योग, ४०, २८

२. परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्॥
वही, भीष्म, ४२, ४४

३. वही, वन, २०७–२५ (गीता प्रेस संस्करण)

४. देयः पिण्डोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ॥
शूद्रेण तु न हातव्यो भर्त्ता कस्याञ्चिदापदि।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्य परिक्षये॥
न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्य धनो हि सः।
वही, शान्ति, ६०, ३५—७

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का भी विधान किया। शूद्रों के लिये केवल एक ही काम बताया, द्विज-सेवा।[1]

शूद्र के लिये कई बातें वर्जित मानी गयीं थीं, जैसे संस्कार और धर्म-कार्य। मंत्रों का प्रयोग भी उसके लिये वर्जित था।[2] महाभारत में उन्हें पाक यज्ञ करने की अनुमति दी गयी है।[3] मंत्रोच्चारण वहाँ भी वर्जित बताया गया है।[4] उसके लिये यज्ञ का विधान करने की आवश्यकता, धर्म-शास्त्रकारों ने, संभवतः इस लिये भी नहीं समझी क्योंकि उनके विचार में अन्य वर्ण के सदस्य यज्ञादि द्वारा जिस पुण्य फल की प्राप्ति करते हैं, वह शूद्र को सेवा कार्य से ही सुलभ हो जाते हैं।[5] ऐसा संभवतः दो कारणों से कहा गया है—स्वधर्म का पालन तो श्रेयस्कर है ही, और फिर सेवा-कार्य को धार्मिक महत्त्व देने से

---

१. एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥
मनु १, ९१
शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा॥
वही, ८, ४१३

२. न शूद्रे पातकं किंचिन्न च संस्कारमर्हति।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्॥
धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः।
मंत्रवर्ज्यं न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च॥
वही, १०, १२६—७

३. महा, शांति, ६०, ३८। पैजवन नामक एक शूद्र ने एक यज्ञानुष्ठान किया भी था। वही, ६० ३९

४. मंत्रः शूद्रे न विद्यते। वही, शान्ति, ६०, ३७

५. यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
वही, शांति, ६०, ४०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यह बात निश्चित थी कि वह तन मन और धन, तीनों से ही अपने स्वामी की सेवा भक्ति-पूर्वक करेगा।

इन विशिष्ट धर्मों के साथ साथ, इन्द्रियों को अपने वश में रखना, अतिथि-सत्कार करना और सदाचरण करना आदि सामान्य धर्म से सम्बन्धित निर्देश भी उसे दिये जाते थे।[१]

स्वधर्म

स्वधर्म शब्द का अर्थ है अपना (स्व) कर्तव्य (धर्म), उदाहरणार्थ ब्राह्मणों के लिये निर्दिष्ट आचारावली को ब्राह्मण का स्वधर्म कहा जायगा। वर्णों की उत्पत्ति के विवरण में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि किस प्रकार चारों वर्णों की आवश्यकता का अनुभव, समाज के कुछ विशेष कार्यों को करने के लिये, हुआ होगा। समाजरूपी शरीर के विभिन्न अंगों की तुलना इन वर्णों से की गयी है। जिस प्रकार स्वस्थ शरीर के सब अंग अपना अपना काम करते हैं उसी प्रकार सुव्यवस्थित समाज में इन वर्णों का अपने अपने कार्यों में लगा रहना आदर्श समझा जाता था और इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए स्वधर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था।

भगवद्गीता में वर्णन है कि किस प्रकार महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में कुरुक्षेत्र में कौरवों और पाण्डवों की सेनाएँ आमने-सामने उपस्थित हुईं। विरोधिनी कौरव सेना में द्रोणाचार्य, भीष्म पितामह तथा वंधु-बांधवों को देख कर अर्जुन को कष्ट हुआ। उन्होंने स्वजनों,

---

१. शूद्रधर्मः परो नित्यं शुश्रूषा च द्विजातिषु ॥
स शूद्रः संशिततपाः सत्यवादी जितेन्द्रियः।
शुश्रूषुरतिथिप्राप्तं तपः संचिनुते महत् ॥
नित्यं स हि शुभाचारो देवताद्विजपूजकः।
शूद्रो धर्मफलैरिष्टैः सम्प्रयुज्येत् बुद्धिमान् ॥
वही, अनुशासन, १४१, ५७—९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रियजनों और पूज्यजनों को युद्ध में मार कर राज्यभोग करने की अपेक्षा भीख माँग कर जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझा और युद्ध न करने का निश्चय किया। तब उनके सारथी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को बताया कि सर्व प्रथम तो वे किसी को मारने की सामर्थ्य ही नहीं रखते। जिसने जन्म लिया है वह अवश्य ही मृत्यु को (अन्त को) प्राप्त करेगा। अतः इस प्रकार से दुःख करने की आवश्यकता ही नहीं। श्रीकृष्ण ने कहा[1] "आत्मा अमर है, अतः समस्त प्राणियों के (निधन के) सम्बन्ध में शोक करना ठीक नहीं है। स्वधर्म जानकर भी विचलित होना उचित नहीं है। क्षत्रिय के लिए युद्ध से अधिक श्रेयस्कर

---

१. देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि॥
स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते॥
यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्॥
अथ चेत्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि॥
अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्यचाकीर्तिः मरणादतिरिच्यते॥
भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्॥
अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्॥
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
वही, भीष्म, २६, ३० — ३७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ भी नहीं है। सौभाग्य से ही तुम्हें इस युद्ध का अवसर मिला है। इसे तुम स्वर्ग का खुला हुआ द्वार समझो (अर्थात् युद्ध करना क्षत्रिय का स्वधर्म है और स्वधर्म-पालन से स्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है)। केवल सौभाग्यशाली क्षत्रियों को ही ऐसे युद्ध करने का अवसर मिलता है। यदि तुम इस धार्मिक युद्ध में भाग नहीं लोगे तो तुम स्वधर्म और कीर्ति, दोनों को नष्ट कर, पाप के भागी बनोगे। लोग तुम्हारी अनन्त निंदा करेंगें और मनस्वियों के लिए अपयश तो मृत्यु से भी अधिक कष्टदायक होता है। लोग तुम्हें भयवश युद्ध से भागने वाला कहेंगे और तुम्हारे सामर्थ्य के विषय में शंका करेंगे। जो तुम्हें आदर की दृष्टि से देखते हैं, वे ही तुम्हें तुच्छ समझने लगेंगे और तुम्हारे विषय में तरह तरह की बातें कहेंगे। इससे बढ़कर और क्या कष्ट हो सकता है? यदि युद्ध करते समय तुम्हारी मृत्यु हो गयी तो तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे और जीतने से राज्य का उपभोग करोगे। अतः द्वन्दरहित होकर, युद्ध करने के लिये दृढ़ निश्चय कर, उठो"।

अर्जुन को समझाते हुए कृष्ण ने कहा कि स्वधर्म का पालन उचित है। ऐसा करने से मनुष्य सिद्धि प्राप्त कर सकता है। दूसरों के स्वनुष्ठित धर्म को भयावह और अपने दोषयुक्त धर्म को अच्छा समझना चाहिए। ऐसा करने से मनुष्य पाप का भागी नहीं बनता। स्वाभाविक कर्मों को, दोषयुक्त होने पर भी, नहीं त्यागना चाहिए क्योंकि हरेक काम में दोष उसी प्रकार अनिवार्य हैं, जिस प्रकार अग्नि के साथ धुआँ।[1] कौटिल्य

१. स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥
सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः॥
गीता, १८, ४५, ४७—८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ने भी चारों वर्णों को अपने अपने धर्मों का पालन करने का निर्देश दिया[१] और स्वधर्म को स्वर्ग की प्राप्ति का साधन बताया है।[२]

मनु ने भी स्वधर्म को महत्ता दी हैं। जैसा कि आपद्धर्म के अन्तर्गत बताया गया हैं, मनु ने आपत्तिकाल में विभिन्न वर्ण के लोगों को दूसरे वर्णों के धर्म अपनाने के लिए सलाह और अनुमति दी है लेकिन जब तक अनिवार्य न हो, ऐसा करना वे ठीक नहीं मानते। उनके शब्दों में गुणहीन स्वधर्म स्वनुष्ठित परधर्म से अच्छा होता है। दूसरों के धर्म का आचरण करनेवाला जाति-भ्रष्ट हो जाता है।[३]

दूसरे वर्णों के धर्म को अपनाने की अनुमति केवल विशेष परिस्थितियों में ही उचित मानी गयी थी। अकारण ही स्वधर्म की अवहेलना का परिणाम, मनु के अनुसार, गम्भीर होता था। ऐसे व्यक्ति जन्मांतर में निन्दित योनियों में जन्म लेते हैं और उन्हें शत्रुओं के यहां दास का कार्य करना पड़ता है। इतना ही नहीं, वे गन्दी गन्दी चीजों को खाने वाले प्रेत होते हैं। आपत्तिकाल होने पर भी अपने धर्म का त्याग करने वाले ब्राह्मण 'उल्कामुख' नामक प्रेत होते हैं, जिनका आहार वमन की हुई चीजें हैं। ऐसे क्षत्रिय 'कटपूतन' नामक प्रेत बनते हैं। ऐसा घृणास्पद वर्णन सम्भवतः इस उद्देश्य से किया गया होगा कि लोग अकारण ही अपने लिए विहित कार्यों को छोड़कर दूसरे के कार्यों

---

१. चतुर्वर्णाश्रमो लोको राजा दण्डेन पालितः।
स्वधर्मकर्माभिरतो वर्तते स्वेषु कर्मसु॥
अर्थशास्त्र, १, ४.

२. स्वधर्मः स्वर्गायानन्त्याय च।
वही, १, ३.

३. वरं स्वधर्मो विगुणो न पारक्यः स्वनुष्ठितः।
परधर्मेण जीवन् हि सद्यः पतति जातितः।
मनु, १०, ९७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को न करें, ताकि समाज का कार्य व्यवस्थित रूप से चलता रहे।[१]

वर्णाश्रम-व्यवस्था करना राजा का एक कर्तव्य था।[२] जब राजा इस कर्त्तव्य का पालन करता है तभी सब वर्ण अपने अपने लिए बताए गये धर्मों के अनुसार आचरण करते हैं।[३] कौटिल्य के मत में वह राज्य, जहाँ राजा वर्णाश्रम-धर्म और मर्यादा की स्थापना करता है, हमेशा प्रगति ही करता है, अवनति नहीं।[४] इसलिए राजा को यह अधिकार दिया गया था कि वह वैश्यों से व्यापार, ब्याज पर रुपया उधार देने, खेती और पशु-पालन का ही काम करवाये और शूद्रों से द्विजों की सेवा करने का।[५]

---

१. स्वेभ्य: स्वेभ्यस्तु कर्मभ्यश्च्युता वर्णा ह्यनापदि।
पापान्संसृत्य संसारान्प्रेष्यतां यान्ति शत्रुषु॥
वान्ताश्युल्कामुख: प्रेतो विप्रो धर्मात्स्वकाच्च्युत:।
अमेध्यकुणपाशी च क्षत्रिय: कटपूतन:॥
मैत्राक्षज्योतिक: प्रेतो वैश्यो भवति पूयभुक्।
चैलाशकश्च भवति शूद्रो धर्मात्स्वकाच्च्युत:॥
वही, १२, ७०—७२

२. वही, ७. ३५; शुक्र, ४, ३४२-३.

३. यदा भुवि जयी राजा क्षेम राष्ट्रेऽभिसंदधेत्।
तदा वर्णा यथाधर्मं निविशेयु कथंचन॥
महा, शांति, ७८, १७.

४. व्यवस्थितार्यमर्याद: कृतवर्णाश्रमस्थिति:।
त्रय्या हि रक्षितो लोको प्रसीदति न सीदति॥
अर्थशास्त्र, १, ३.

५. वाणिज्यं कारतेद्वैश्यं कुसीदं कृषिमेव च।
पशूनां रक्षणं चैव दास्यं शूद्रं द्विजन्मनाम्॥
मनु, ८, ४१०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस संबंध में कौशिक नामक ब्राह्मण के अनुभव उल्लेखनीय हैं।[1] एक बार जब वे एक पेड़ के नीचे बैठकर वेद-पाठ कर रहे थे, वृक्ष पर बैठी हुई एक बगुली ने उनके ऊपर बीट कर दी। कुपित ब्राह्मण ने पक्षी पर क्रुद्ध दृष्टि फेंकी जिसके परिणामस्वरूप वह निष्प्राण हो पृथ्वी पर गिर पड़ी। इस घटना से दुःखी ब्राह्मण भिक्षाटन के लिए गये। एक घर में भीख माँगने पर एक स्त्री ने उनसे "ठहरो" कहा। लेकिन उसी समय अपने पति के आ जाने के कारण वह पहले उनकी सेवा में लग गयी और भिक्षा देने में विलम्ब हुआ। यह बात ब्राह्मण को अपमानजनक लगी। उन्होंने उस स्त्री से गृहस्थाश्रम-धर्म की याद दिलाते हुए आगत ब्राह्मण के समुचित सत्कार के औचित्य के विषय में कहा। उत्तर में स्त्री ने कहा "मैं पतिसेवारूपी धर्म को ही सबसे अधिक महत्व देती हूँ क्योंकि पति मेरे लिए सबसे बड़े देवता हैं।[2] हे ब्राह्मण! आप परम धर्म से अनभिज्ञ जान पड़ते हैं। यदि आपको धर्म के विषय में जिज्ञासा हो तो आप मिथिला के धर्म व्याध के पास जाँय। कृपया विलम्ब के लिए, और अगर मैंने कुछ अनुचित और अप्रिय कहा हो तो उसके लिए, मुझे क्षमा करें।"

पतिव्रता स्त्री की बात सुन कौशिक धर्म व्याध से मिलने मिथिला गये। धर्मव्याध ने उनका उचित सम्मान-सत्कार किया और विभिन्न नैतिक गुणों के महत्व को बताया और कहा "मैं मांस बेचता हूँ जो कि (हिंसाप्रधान होने के कारण) निःसन्देह एक क्रूर कर्म है। इतना जानते हुए भी मैं इस व्यवसाय को नहीं छोड़ता क्योंकि यह

---

१. महा, वन, अध्याय २०६—२१६.

२. पतिशुश्रूषया धर्मो यः स मे रोचते द्विज।
देवतेष्वपि सर्वेषु भर्ता मे दैवतं परम्॥
अविशेषेण तस्याहं कुर्यां धर्मं द्विजोत्तम।
वही, वन, २०६, ३०—३१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हमारा आनुवंशिक व्यवसाय होने के कारण स्वधर्म है। हे ब्राह्मण! अपने लिए बताये गये विशिष्ट कार्यों को न करने वाले अधर्मभागी होते हैं और जो स्वकर्म में रत हों, वे धार्मिक होते हैं।[1] स्वधर्म के पालन से यश की प्राप्ति होती है।[2]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्वधर्म का तात्पर्य चारों वर्णों के लिए विशेष रूप से बताई गयी आचारावली से है। विभिन्न पदों या आश्रमों आदि के लिए निर्दिष्ट धर्म को भी इसी के अन्तर्गत समाविष्ट माना गया था।

आपद्धर्म

आपद्धर्म का तात्पर्य आपत्ति काल के लिए विहित आचरण से है। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, भारतीय शास्त्रकारों के अनुसार परिस्थितियों के परिवर्तन के साथ धार्मिक स्तर में भी परिवर्तन अनिवार्य है। महाभारत[3] में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि देश और

१. स्वधर्म इति कृत्वा तु न त्यजामि द्विजोत्तम।
पुरा कृतमिति ज्ञात्वा जीवाम्येतेन कर्मणा॥
स्वकर्म त्यजतो ब्रह्मन्नधर्म इह दृश्यते।
स्वकर्मनिरतो यस्तु धर्म स इति निश्चयः॥
वही, वन, २०८, ८—९

२. स्वकर्मनिरतो यो हि स यशः प्राप्नुयान्महत्।
वही, वन, २०८, ३९

३. भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि।
कारणाद्देशकालस्य देशकालः स तादृशः॥
महा, शान्ति, ८८, ३२
आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम्।
वही, शान्ति, ८०, २५
तस्मादापत्स्वधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षणः।
वही, शांति, १३०, १६

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

काल के अनुसार धर्म अधर्म बन जाता है, और इसी प्रकार अधर्म धर्म हो जाता है। भारतभावदीपिका में टीकाकार नीलकण्ठ ने किसी काम के धार्मिक और कभी अधार्मिक होने को 'द्वैध' बताया है।[1] भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि जो लोग सामान्य परिस्थितियों में हों अर्थात् समर्थ हों उनके कर्त्तव्य उन व्यक्तियों के कर्त्तव्यों से भिन्न होते हैं जो विपत्ति में पड़े हों।[2] यह उचित भी है। स्वस्थ और अस्वस्थ व्यक्तियों के आचरण-व्यवहार में अन्तर होना भी चाहिए।

चारों वर्णों के लिए बताये गये धर्म में भी परिस्थिति के अनुसार भिन्नता आपत्तिजनक नहीं मानी जाती थी। आपत्तिकाल में उन्हें इस बात की छूट थी कि वे स्वधर्म का परित्याग कर दें, जो अन्यथा अनुचित समझा जाता था। उद्योग पर्व में युधिष्ठिर ने विदुर से कहा, "विपत्ति काल में अधर्म धर्म का रूप धारण करता है। सामान्य परिस्थितियों में प्रत्येक वर्ण के लोगों को अपने लिए बताये गये धर्म का पालन करना चहिए। लेकिन जब स्वधर्म से जीविकोपार्जन संभव न हो तब अन्य उपायों का सहारा लेना चाहिए। हे संजय, जो सामान्य परिस्थितियों में स्वधर्म का पालन न करें और जो विपत्तिकाल में भी स्वधर्म का पालन करें, दोनों ही निन्दनीय है। प्रशंसनीय तो वे हैं, जो समय के साथ परिवर्तित धर्म को अपनाएँ"।[3] आपत्तिकाल में कोई भी रास्ता और तरीका अनुचित और आपत्तिजनक नहीं होता।[4]

---

१. द्वैधं एकस्यैव कर्मणः क्वचित्काले धर्मत्त्वं क्वचिदधर्मत्वं इति द्विप्रकारत्वम्। वही, शान्ति, १४२, ८ पर टीका।

२. अन्यो धर्मः समर्थनामापत्स्वन्यश्च भारत।
वही, शान्ति १३०, १४

३. वही, उद्योग, २८, २—५

४. पीडितस्य किमुद्वारमुत्पथो विधृतस्य च।
अद्वारतः प्रद्रवति यथा भवति पण्डितः॥
वही, शान्ति, १३०, २२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाभारत में उन परिस्थितियों का वर्णन है, जिनके होने पर आपत्तिकाल मानना चाहिए। शांति पर्व के अनुसार "जब धर्म का ह्रास एवं नाश हो, अधर्म को ही धर्म के समान महत्वपूर्ण माना जाय, सत्य के विषय में लोग आपत्ति करें, राजा और डाकू प्रजा को पीड़ित करें, लोग विभिन्न प्रलोभनों के कारण एक दूसरे पर विश्वास खो दें, आश्रम-धर्म का पालन न करें, दूसरों को धोखा दें, वर्षा न हो, दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होती हो, तब आपत्तिकाल है, ऐसा समझना चाहिए"।[1]

प्राचीन भारतीय वर्ण-व्यवस्था के अनुसार युद्ध करना सामान्यरूप से क्षत्रियों का कर्त्तव्य था। उनकी उत्पत्ति ही युद्ध और विजय करने के लिए हुई थी।[2] इसलिए कौटिल्य ने क्षत्रियों की सेना को उस सेना की अपेक्षा अधिक बलवती समझा जिसमें अन्य वर्णों के भी सैनिक हों।[3] लेकिन अन्य वर्णों को भी कुछ परिस्थितियों में शस्त्र ग्रहण करने की अनुमति थी, उदाहरणार्थ जब राजा ने ऐसा करने की आज्ञा दी हो[4], जब दस्युओं के कारण समाज में शांति-व्यवस्था न हो, वर्णसंकर की

---

१. वही, शान्ति, १४१, १–८

२. युद्धाय क्षत्रियः सृष्टः संजयेह जयाय च।
वही, उद्योग, १३५, १३

३. "ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रसैन्यानां तेजः प्राधान्यात् पूर्वः पूर्वः श्रेयः सन्नाहयितुं" इति आचार्याः। नेतिकौटिल्यः। प्रणिपातेन ब्राह्मबलं परोऽभिहारयेत्। प्रहरणविद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयः। बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबलमिति।
अर्थशास्त्र, ९, २

४. राज्ञो नियोगाद् योद्धव्यं ब्राह्मणेन विशेषतः।
वर्तता क्षत्रधर्मेण ह्येवं धर्मविदो विदुः॥
महा, शल्य, ६५, ४२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अधिकता हो,[१] और जब क्षत्रियों को नि:शस्त्र समझकर शत्रु ने सिर उठा लिया हो।[२]

गौतम ने प्राण-संकट के समय ब्राह्मण को शस्त्र धारण करने की अनुमति दी है।[३] बौधायन उसे गुरु के लिये, ब्राह्मण के लिए और वर्णसंकर होने पर शस्त्र धारण करने की सलाह देते हैं।[४] वसिष्ठ के अनुसार ब्राह्मण तथा वैश्य को तब शस्त्र उठाना चाहिए जब आत्म-रक्षा की जरूरत हो या जब वर्णों की शुद्धि समाप्त हो रही हो।[५] मनु के अनुसार द्विज वर्ण के लोग धर्म का अवरोध होने पर ऐसा कर सकते हैं।[६] स्वधर्म से अपनी जीविका का उपार्जन न कर सकने पर

---

१. उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः संकरे कृते।
सर्वे वर्णा न दुष्येयुः शास्त्रवन्तो युधिष्ठिर॥
वही, शान्ति, ७८, १८

२. अशस्त्रं क्षत्रियं मत्वा शस्त्रं गृह्णाद् यथापरः।
त्राणायप्यसमर्थं तु मन्यमानमतीव च॥
वही, शान्ति, ९५, ५

३. प्राणसंशये ब्राह्मणोऽपि शस्त्रमाददीत।
गौतम, ७, २५। देखिये वही, ७, ६

४. गुर्वार्थे ब्राह्मणार्थे वा वर्णानामपि संकरे।
गृहीतायां विप्रविशौ शस्त्रं धर्मव्यपेक्षया॥
बौधायन धर्मसूत्र, २, २, ८०

५. आत्मत्राणे वर्णसंवर्गे ब्राह्मणवैश्यौ शास्त्रमाददीयताम्।
वसिष्ठ, ३, १४

६. शस्त्रं द्विजातिभिर्ग्राह्यं धर्मो यत्रोपरुध्यते।
द्विजातीनां च वर्णानां विप्लवे कार्यकारिते॥
मनु, ७, ३४८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मण क्षत्रिय के धर्म को अपना सकता हैं।[1] याज्ञवल्क्य[2] और शुक्र[3] भी आपत्तिकाल में ब्राह्मण को क्षत्रिय-धर्म अपनाने की सलाह देते हैं। महाभारत में कई अक्षत्रिय योद्धाओं के उदाहरण मिलते हैं लेकिन यह उल्लेखनीय है कि उन्होंने आपत्तिकाल में शस्त्र ग्रहण नहीं किया था। द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, और युयुत्सु आदि के नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। मौर्य सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग भी ब्राह्मण था।

शान्ति पर्व में युधिष्ठिर ने भीष्म से अक्षत्रिय द्वारा दण्डधारण के औचित्य के विषय में पूछा।[4] उत्तर में भीष्म ने कहा, "जो व्यक्ति मँझधार में (अपार में) किनारा लगे, वह चाहे शूद्र हो चाहे किसी भी वर्ण का, आदरणीय समझा जाना चाहिए। जिसका आश्रय लेकर अनाथ, तड़पती हुई और दस्युओं द्वारा सतायी गयी प्रजा को सुख मिले, उसे स्वजन समझकर प्रेमपूर्वक उसका सम्मान करना चाहिए। उन बैलों से, जो बोझा न ढोते हों, उन गायों से, जो दूध न देती हो, उस पत्नी से, जो बाँझ (वन्ध्या) हो और उस राजा से, जो प्रजा की रक्षा करने में असमर्थ हो, क्या प्रयोजन? जो प्रजा की रक्षा न करता हो, वह राजा लकड़ी के हाथी, चमड़े के हिरण, धनहीन या नपुंसक व्यक्ति, अनुपजाऊ भूमि और वेद को न जानने वाले ब्राह्मण के समान

---

१. अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनन्तरः॥
वही, १०, ८१.

२. क्षत्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाऽप्यापदि द्विजः॥
याज्ञवल्क्य, ३, ३५.

३. ब्राह्मणस्यापि चापत्तौ क्षत्रधर्मेण वर्ततः॥
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसंभवम्।
शुक्र, ४, ११३५–६.

४. महा, शांति, ७८, ३५–७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

निरर्थक होता है। उसे उस बादल की तरह समझना चाहिए, जो वर्षा न करता हो। वही व्यक्ति राजा बनने के योग्य होता है, जो सज्जनों की रक्षा करे और दुष्टों का दमन करके उन्हें वश में रक्खे।[1]

मनु किसी शूद्र को राजा बनाने के पक्ष में नहीं हैं और उन्होंने शूद्र के राज्य में निवास करना भी ठीक नहीं माना है।[2] भारतवर्ष के इतिहास में अक्षत्रिय राजाओं के कई ऐतिहासिक उदाहरण मिलते हैं। नंद वंश का संस्थापक महापद्मनंद शूद्र था और उसे "शूद्रागर्भोद्भव" अर्थात् शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न, बताया गया है।[3] पुष्यमित्र शुंग, जो

---

१. अपारे यो भवेत्पारमप्लवे यो प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाऽप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥
यमाश्रित्य नरा राजन्वर्तयेयुर्यथासुखम्।
अनाथा परिकाल्यंतो दस्युभिः परिपीडिताः ॥
तमेव पूजयेयुस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम्।
अभीरभीक्ष्णं कौरव्य कर्ता सम्मानमर्हति ॥
किं तैर्येऽनहुतो नोह्याः किं धेन्वा वाऽप्यदुग्धया।
वन्धया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाप्यरक्षिता ॥
यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यथा ह्यनर्थः षण्ठो वा पार्थ क्षेत्रं यथौषरम् ॥
एवं विप्रोऽनधीयानो राजा यश्च न रक्षिता।
मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥
नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राजा कर्त्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥
वही, शांति, ७८, ३८–४४.

२. न शूद्रराज्ये निवसेत्। मनु, ४, ६१.

३. विष्णु पुराण, ४, २४, २०-२१.
देखिये एच. सी. रायचौधरी: पौलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शण्ट इण्डिया (६ठाँ संस्करण), पृ. २३१-२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मौर्यवंश के अंतिम शासक बृहद्रथ का सेनापति था, ब्राह्मण था और उसने बृहद्रथ की हत्या करने के बाद, शुंगवंश की संस्थापना की। कण्व और कदम्ब वंश भी ब्राह्मणवर्णीय थे। वैश्य राजा का विवादरहित कोई भी उदाहरण अब तक नहीं मिला है।

मनुस्मृति से चारों वर्णों के लिए बताये गये आपद्धर्म के संबंध में सूचना मिलती है। आपत्तिकाल में विभिन्न वर्णों को अपने से एक श्रेणी नीचे वाले वर्ण के कार्यों को अपनाने की सलाह दी गयी है। यदि इससे भी काम न चल सके तो एक श्रेणी और नीचे वाले वर्ण के धर्म को अपनाया जा सकता है। अपने से श्रेष्ठ वर्ण के धर्म को आपद्धर्म के रूप में स्वीकार करना सर्वथा वर्जित था। राजा को चाहिए कि लोभवश ऐसा करने वाले को दण्डित करे तथा उसे निर्धन कर, राज्य से निकाल दे।[1] क्योंकि शूद्र से नीचा कोई भी वर्ण नहीं था जिसके कार्यों को वह आपत्तिकाल में अपनाता, अतः उसे कुछ विशेष प्रकार के कार्यों को करने की छूट थी, जैसा आगे देखा जायगा।

ब्राह्मण का आपद्धर्म

मनु के मत में, जब ब्राह्मण अपने स्वधर्म के पालन से अपना जीवन निर्वाह करने में असमर्थ हो, तब उसे अपने निकटतम वर्ण अर्थात् क्षत्रिय वर्ण के धर्म का आचरण करना चाहिए। यदि क्षत्रिय-धम से भी वह जीविकोपार्जन में सफल न हो सके तो कृषि और गोरक्षा, अर्थात् वैश्य-धर्म को स्वीकार करे। लेकिन आपत्तिकाल में भी यथासंभव उसे हिंसाबहुला कृषि कर्म से दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए,

१. जीवेदेतेन राजन्यः सर्वेणाप्यनयं गतः।
न त्वेवं ज्यायसीं वृत्तिमभिमन्येत् कर्हिचित्॥
यो लोभादधमो जात्या जीवेदुत्कृष्टकर्मभिः।
तं राजा निर्धनं कृत्वा क्षिप्रमेवं प्रवासयेत्॥
मनु, १०, ९५-६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्योंकि हल से खेत जोतते समय जाने अनजाने में अनेक जीवों की प्राण-हानि हो जाती है। ब्राह्मण वैश्यों के समान विक्रय कार्य कर सकते थे।[१] वैश्य-धर्म अपनाने पर भी उन्हें कुछ बातों का ध्यान रखना पड़ता था। कुछ विशेष वस्तुओंका विक्रय उनके लिए वर्जित था। इनकी विस्तृत सूची मनु ने दी है।[२] जो ब्राह्मण इन निषिद्ध वस्तुओं को भी बेचता था, वह सात रात्रि के बाद वैश्य बन जाता था, अर्थात् उसका ब्राह्मणत्व समाप्त हो जाता था।[३] लेकिन जब कोई भी उपाय न बचे तो विपत्तिग्रस्त ब्राह्मण को सभी से दान लेना चाहिए। निंदित व्यक्तियों से भी दान लेने में, अनधिकारी व्यक्तियों को भी पढ़ाने में तथा ऐसे ही लोगों के यज्ञ करवाने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए। ब्राह्मण

---

१. अजीवंस्तु यथोक्तेन ब्राह्मणः स्वेन कर्मणा।
जीवेत्क्षत्रियधर्मेण स ह्यस्य प्रत्यनंतरः॥
उभाभ्यामप्यजीवंस्तु कथं स्यादिति चेद्भवेत्।
कृषिगोरक्षमास्थाय जीवेद्वैश्यस्यजोविकाम्॥
वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा।
हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्॥
कृषिसाध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्भिर्गर्हिता।
भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयो मुखम्॥
इदं तु वृत्तिवैकल्यात त्यजतो धर्मनैपुणम्।
विट्पण्यमुद्धृतोद्धारं विक्रेयं वित्तवर्धनम्॥
वही, १०, ८१—८५
देखिये काणे : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. १२४-८.

२. वही, १०, ८६—९२

३. इतरेषां तु पण्यानां विक्रयादिह कामतः।
ब्राह्मणः सप्तरात्रेण वैश्यभावं नियच्छति।
वही, १०, ९३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अग्नि और जल के समान (पवित्र) है और पवित्र वस्तु कभी भी दूषित नहीं होती, ऐसा शास्त्रों का मत हैं।[१] याज्ञवल्क्य ने भी ऐसा ही कहा है।[२]

क्षत्रिय का आपद्धर्म

जीविका में किसी प्रकार की कठिनाई होने पर क्षत्रियों को ब्राह्मणों तथा तपस्विओं को छोड़कर, अन्य किसी के भी द्वारा दी गई वस्तुएँ स्वीकार करनी चाहिए। ऐसी परिस्थितियों में वह अन्यथा अनुचित साधनों का प्रयोग कर सकता था, उसी प्रकार, जैसे मुसीबत में फँसा हुआ ब्राह्मण किसी से भी याचना कर सकता था[३] और अन्यथा

---

१. सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद् ब्राह्मणस्त्वनयं गतः ।
पवित्रं दुष्यतीत्येतद्धर्मतो नोपपद्यते ।।
नाध्यापनाद्याजनाद्वा गर्हिताद्वा प्रतिग्रहात् ।
दोषो भवति विप्राणां ज्वलनाम्बुसमा हि ते ।।
वही, १०, १०२—३

२, आपद्गतः संप्रगृह्णान्भुञ्जानो वा यतस्ततः ।
न लिप्यतैनसा विप्रो ज्वलनार्कसमो हि सः ।।
बुभुक्षितस्त्र्यहं स्थित्वा धान्यमब्राह्मणाद्धरेत् ।
प्रतिगृह्य तथाऽऽख्येयमभियुक्तेन धर्मतः ।
याज्ञवल्क्य, ३. २, ४१, ४३.

३. क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति ।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ।।
यथा वै ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत् ।
अभोज्यान्नानि चाश्नीयात् तथेदं नात्रसंशयः ।।
आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम् ।
अपि ह्येतद् ब्राह्मणेषु दृष्टं वृत्तिपरिक्षये ।।
महा, शांति, १३०, २१—२१, २४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अभक्ष्य वस्तु को भी खा सकता था और ऐसा करने में उसे कोई भी दोष नहीं लगता था। उसे आपत्तिकाल में सन्यास ग्रहण करने की छूट दी गई थी।[१]

सामान्यरूप से क्षत्रियों के द्वारा आपत्ति-काल में वैश्य-धर्म स्वीकार करना उचित समझा जाता था, लेकिन भीष्म ने एक स्थान पर क्षत्रियों के लिए वैश्य या शूद्र की जीविका अपनाना अनुचित बताया है।[२] मनु ने क्षत्रियों को आपद्धर्म के रूप में वर्जित वस्तुओं को छोड़कर अन्य चीजों को बेचने की अनुमति दी है। वे यथासंभव खेती न करें, क्योंकि यह एक हिंसाप्रधान व्यवसाय है।[३] याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार संकट के समय क्षत्रिय वैश्य और शूद्र की जीविका अपना सकता था लेकिन संकट बीतने पर उसे स्वधर्म को पुनः अपना लेना चाहिए।[४] मनु के समान याज्ञवल्क्य ने भी उन वस्तुओं की सूची दी है जिनको बेचना क्षत्रियों के लिए उचित और अनुचित समझा गया था।[५]

---

१. आपत्काले हि सन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते।

वही, शांति, १०, १७। शांति पर्व में ही भिक्षाटन क्षत्रियों के लिए वर्जित बताया गया है।

भैक्ष्यचर्या न विहिता…।

वही, शान्ति, १३०, २३

२. न च विट्शूद्र जीविका…।

वही, शांति, १३०, २३

३. मनु, १०, ८३ और आगे।

४. क्षात्रेण कर्मणा जीवेद्विशां वाऽप्यापदि द्विजः।
निस्तीर्य तामथात्मानं पावयित्वा न्यसेत्पथि॥
याज्ञवल्क्य स्मृति, ३, ३५। देखिये वही ३, ४१

५. वही ३, ३५—९

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वैश्य का आपद्धर्म

ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों के समान, संकटकाल में वैश्यों को भी स्वधर्म को त्यागने की अनुमति दी गई थी। वे शूद्र के व्यवसाय को अपना सकते थे और समय बदलने पर फिर उन्हें वैश्य-धर्म के अनुसार ही आचरण करना चाहिए, ऐसा मनु का मत है।[1] मेधातिथि ने वैश्य के आपद्धर्म को स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह शूद्रों की तरह पैर धोये और शुश्रूषा आदि तो करे लेकिन जूठा खाना या इसत रह के अन्य निम्न कार्यों को न करे। आपत्ति या असमर्थता की स्थिति समाप्त होते ही इन कामों को छोड़ दे। क्या ब्राह्मण भी आपत्ति काल में ये सब कर सकते थे ? कुछ लोगों के अनुसार यह कार्य सब वर्णों के लिए अनुमित थे लेकिन मेधातिथि के अनुसार यह शंका निरर्थक है। ब्राह्मणों के लिए यह अनुचित है। सामान्य नियम यह है कि ये सब कार्य सामर्थ्यवान् होते ही त्याग देना चाहिए।[2]

कुल्लुक ने भी जूठा खाने को वर्जित और द्विजातियों की सेवा को उचित बताते हुए कहा है कि वैश्य इन कार्यों को केवल तभी तक कर

---

१. वैश्योऽजीवन्स्वधर्मेण शूद्रवृत्यापि वर्तयेत्।
अनाचरन्नकार्याणि निवर्तेत च शक्तिमान्॥
मनु, १०, ९८.

२ स्वधर्मेणाजीवतो वैश्यस्य शूद्रवृत्तिरनुज्ञायते पादधावनादिशुश्रूषया अनाचरन्नकार्याणि उच्छिष्टापमार्जनाद्यकायं तत्परिहर्तव्यं शक्तिमान्निवर्तेत सर्वंशेषः। अत्र केनचिदुक्तं सामर्थ्यात् ब्राह्मणक्षत्रियोरप्येतदतिदिश्यतेतत्रापरेण संदिह्यते कथं शूद्रवृत्ति ब्राह्मणः कुर्यात् एवं हि श्रूयते। उत्कृष्टं चापकृष्टं च विद्येते कर्मणी तयोः। मध्यमे कर्मणी हित्वा सर्वसाधारणे हिते। इति तदुक्तनत्वस्यायमर्थो ब्राह्मणस्य शूद्रवृत्तिरनुज्ञायते सामर्थ्यादिति किं तर्हि निवर्तेत च शक्तिमानिति यदस्माभिरुक्तं सर्वंशेष इति।
वही, १०, ९८ पर टीका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सकता था, जब तक वह असमर्थ हो। अपनी आजीविका सुलभ होते ही शूद्र-धर्म का परित्याग और उसके लिए प्रायश्चित करना चाहिए। ब्राह्मणों और क्षत्रियों के लिए भी, आपत्तिकाल में बाध्य होकर किये गये कार्यों के लिए प्रायश्चित करना आवश्यक बताया गया है।[1]

सामान्य रूप से आपत्तिकाल में अपने से निम्नवर्ग के ही कर्तव्यों को करना विहित था, लेकिन वैश्य विशेष परिस्थितियों में शस्त्र धारण कर सकते थे। वसिष्ठ ने अपनी रक्षा के लिए और वर्णसंकर होने पर ब्राह्मणों को और वैश्यों को शस्त्र ग्रहण करने के लिए निर्देश दिया है।[2]

शूद्र का आपद्धर्म

ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों की सेवा शूद्रों का स्वधर्म माना गया था। द्विजों में भी ब्राह्मण की सेवा को मनु ने श्रेष्ठतम माना है और उनके मत में ब्राह्मण की सेवा मात्र से ही शूद्र को जीविका और स्वर्ग दोनों की प्राप्ति हो सकती है। सेवा करवाने वाले ब्राह्मण को चाहिए कि वह सेवक शूद्र को सामर्थ्यानुसार पारिश्रमिक, जूठा खाद्यपदार्थ, फटे पुराने वस्त्र तथा अन्य टूटी फूटी वस्तुएँ दे।[3]

---

१. वैश्यः स्ववृत्त्याजीवितमशक्नुवन् शूद्रवृत्त्यापि द्विजातिशुश्रूषयोच्छिष्टभोजनादिन्यकुर्वन्वर्तेत निस्तीर्णकार्याणि उच्छिष्टभक्षणादीनि। निवर्तेत शूद्रवृत्तेः। शक्तिमान् लब्धस्ववृत्तिश्चेत् लब्धवृत्त्योर्विप्रक्षत्रियोरपि निवृत्तिः प्रायश्चितपूर्विका शक्तिमानित्यनेनसूचिता॥ मनु, १०, ९८ पर कुल्लुक।

२. आत्मत्राणे वर्णसंवर्गे ब्राह्मणवैश्यौ शस्त्रमाददीयाताम्। वसिष्ठ धर्मशास्त्र, ३, २४।

३. शूद्रस्तु वृत्तिमाकांक्षन्क्षत्रमाराधयेद्यदि।
धनिनं वाप्युपाराध्य वैश्यं शूद्रो जिजीविषेत्॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यदि इससे उसकी जीविका न चल सके एवं वह अपनी पत्नी और सन्तान का भरण-पोषण न कर पाये तो उस आपत्तिग्रस्त शूद्र को व्यापार, पशु-पालन और विभिन्न शिल्प कलाओं को अपनाना चाहिए, ऐसा महाभारत का मत हैं।[1] टीकाकार नीलकण्ठ ने शिल्प के अन्तर्गत चित्रलेखन (चित्रकला) आदि का उल्लेख किया हैं।[2]

प्राण-रक्षा के उद्देश्य को दृष्टि में रखते हुए मनुस्मृति नें भी कहा गया है कि अपनी पत्नी और बच्चों के जीवन को बचाने के निमित्त,

---

स्वर्गार्थमुभयार्थं वा विप्रानाराधयेत्तु सः।
जातब्राह्मणशब्दस्य सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥
विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते।
यदतोऽन्यद्धि कुरुते तद्भवत्यस्य निष्फलम् ॥
प्रकल्प्या तस्य तैर्वृत्तिः स्वकुटुम्बाद्यथार्हतः।
शक्तिं चावेक्ष्य दाक्ष्यं च भृत्यानां च परिग्रहम् ॥
उच्छिष्टमन्नं दातव्यं जीर्णानि वसनानि च।
पुलकाश्चैव धान्यानां जीर्णाश्चैव परिच्छदाः ॥
मनु, १०, १२१—२५

१. वाणिज्यं पाशुपाल्यं च तथा शिल्पोपजीवनम्।
शूद्रस्यापि विधीयन्ते यदा वृत्तिर्नजायते ॥
महा, शांि, २९४, ४.

२. शिल्पं चित्रलेखनादि वृत्तिः सेवारुपा ॥
वही, शांति, २९४, ४ पर टीका।

इससे ऐसा लगता है कि हस्तकलाओं को बड़ी हेय दृष्टि से देखा जाता था। इसी कारण इनको अपनाने की अनुमति केवल शूद्रों को ही दी गयी है और वह भी तब, जब उसके लिए जीविकोपार्जन का कोई भी दूसरा उपाय न बचा हो। यह बड़ा विचित्र सा लगता है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आपत्तिग्रस्त शूद्र को कारीगर हो जाना चाहिए। उसे उन कामों को करना चाहिए जिनसे द्विज वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) की सेवा हो सके।[१]

कारु कर्म[२] को समझाते हुए मेधातिथि ने भोजन बनाने के काम, कपड़ा बुनने के काम, और बढ़ई के काम आदि को करने का विधान किया है जिससे वह अपनी पत्नी व संतान का भरण-पोषण कर सके।[३] कुल्लुक ने आपत्तिकाल में शूद्र के लिए भोजन बनाने का काम, बढ़ई का काम और चित्रकला आदि विभिन्न शिल्प कलाओं को करने का विधान किया

---

१. अशक्नुवंस्तु शुश्रूषां शूद्रः कर्तुं द्विजन्मनाम्।
पुत्रदारात्ययं प्राप्तो जीवेत्कारुकर्मभिः॥
यैः कर्मभिः प्रचरितैः शुश्रूष्यन्ते द्विजातयः।
तानि कारुकर्माणि शिल्पानि विविधानि च॥
मनु, १०, ९९-१००.

२. कारु शब्द के कई अर्थ हैं जैसे बनानेवाला, कलाकार, (हस्त-कलाओं का ज्ञाता) और यंत्रकार। इनके पाँच प्रकार का उल्लेख है-
तक्षा च तंत्रव्यायश्च नापितो रजकस्तथा।
पचमश्चर्मकारश्च कारवः शिल्पिनो मताः॥
आप्टे : स्टूडेण्ट्स संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ. १४५.

३. कारुकाः शिल्पिनः सूदतन्तुवायादयस्तेषां कर्माणि पाकयवनादीनि प्रसिद्धानि तैर्जीवित पुत्रदारात्ययस्तद्भरणासमर्थता एतेन धनतंत्र-भंगेनतस्यापदिविवाहादिकर्मणामेषां विधानान्निकृष्टताऽनुमीयते॥ प्रचरितैरनुष्ठितैः शुश्रूष्यन्ते सेव्यन्ते। तदुपयोगीनि यानि कर्माणि शिल्पानि यद्यपि शिल्पमपि कारुकर्मैवतथापीहभेदेनोपादानात्तक्षकि-वर्धकि प्रभृतयः कारवस्तेषांकर्माणि तक्षणवर्धनादीनि शिल्पानि यत्र छेदरूपकर्माण्यालेख्यानि।
वही, १०, ९९-१०० पर मेधातिथि।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है ।[1] शूद्र यदि भोजन बना सकते थे तो यहाँ एक स्वाभाविक शंका सामने आती है। उनका बनाया भोजन खाता कौन था ? जैसा कि विश्वामित्र की कथा से स्पष्ट होगा, ब्राह्मण यदि स्वयं आपत्तिग्रस्त हो तब तो वह इस प्रकार का परहेज नहीं करते थे लेकिन क्या शूद्र के जीविकोपार्जन के लिए भी उन्हें शूद्र का बनाया भोजन स्वीकार करने की अनुमति थी ?

इस सम्बन्ध में चाण्डाल और विश्वामित्र का वार्तालाप विचारणीय है। शान्ति पर्व के अनुसार त्रेता युग के अन्त तथा द्वापर युग के आरम्भ मं लगातार बारह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई। नदी, नाले, झील तथा जलाशय, सभी सूख गये। सभी फसलें सूख गईं। भारी अकाल पड़ा। बहुत से लोग भूख से मर गये तथा आबादी कम हो गई। चोर व डाकुओं ने लोगों को लूटना शुरू किया तथा पूर्ण रूप से अराजकता फैल गई। इसी समय विश्वामित्र और उनके परिवार के लोगों को जिन्दा रहने के लिए खाद्य सामग्री न मिल सकी। विश्वामित्र अपने परिवार वालों को छोड़कर भोजन की तलाश में चाण्डालों की बस्ती में गये। एक मकान में उन्होंने तुरन्त ही मारे गये कुत्ते की जंघा को देखा तथा अपनी भूख मिटाने के लिए उसको चुराने की चेष्टा की परन्तु चाण्डाल ने, जिसे विश्वामित्र ने सोता हुआ समझा था, उन्हें रंगे हाथों पकड़ लिया। चाण्डाल ने विश्वामित्र से इस पाप कर्म को न करने का आग्रह किया परन्तु विश्वामित्र ने कहा कि गाय पानी पीती रहती है जबकि मेढक टर्राते रहते हैं। उन्होंने कहा कि आपत्तिकाल

---

१. शूद्रः द्विजातिशुश्रूषां कर्तुमक्षमः क्षुदवसन्नपुत्रकलत्रः सूपकारादिकर्मभिर्जीवेत्। पूर्वोक्तकारुकर्मविशेषाभिधानार्थमिदं यैः कर्मभिः कृतैर्द्विजातयः परिचर्यन्ते तानि च कर्माणि तक्षणादीनि शिल्पानि च चित्रलिखितादीनि नानाप्रकाराणि कुर्यात्।
वही, १०, ९९—१०० पर कुल्लूक।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में आत्मरक्षा ही सर्वोपरि है। आपद्धर्म, जान बचाने के लिए सभी प्रकार के साधनों—उचित या अनुचित—की अनुमति देता है। इस प्रकार से उन्होंने भगवान को भेंट चढ़ाकर मांस खाया[1]।

मनु[2] ने भी इसी प्रकार के अनेक उदाहरण दिये है। महर्षि अजीगर्त ने अपनी भूख मिटाने के लिए अपने बेटे को मार डाला। पाप और पुण्य के ज्ञाता, वामदेव, ने भूख से प्राण-रक्षा के लिए कुत्ते का मांस खाया। भारद्वाज ने वृधु नामक बढ़ई से भेंट स्वीकार की। विश्वामित्र के द्वारा चाण्डाल के घर मांस खाने का उल्लेख भी मनु ने किया है और कहा है कि इनमें से कोई भी पाप का भागी नहीं बना।

संक्षेप में, आपद्धर्म का उद्देश्य था शरीर-रक्षा और प्राण-रक्षा। जैसा कि कालिदास ने कहा है शरीर धर्म-प्राप्ति का साधन है[3] और इसी कारण, प्राचीन भारतीय विचारकों ने विशेष परिस्थितियों में

---

१. महा, शान्ति, अध्याय १४१.

२. अजीगर्तः सुतं हन्तुमुपासर्पद्बुभुक्षितः।
न चालिप्यत पापेन क्षुत्प्रतीकारमाचरन्॥
श्वमांसमिच्छन्नार्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान्॥
भरद्वाजः क्षुधार्तस्तु सपुत्रो विजने वने।
बह्वीर्गाः प्रतिजग्राह वृधोस्तक्ष्णो महातपाः॥
क्षुधार्तश्चात्तुमभ्यागाद्विश्वामित्रः श्वजाघनीम्।
चण्डालहस्तादादाय धर्माधर्मविचक्षणः॥
मनु, १०, १०५-८.

३. शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्।
कुमारसंभवम्, ५ ३३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

साध्य के औचित्य के कारण साधन के औचित्य को भी स्वीकार किया और आपद्धर्म का विधान किया।

वर्णसंकर

प्राचीन काल में विवाह के कई प्रकार थे। विवाह के तरीके के आधार पर ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापात्य को प्रशस्त तथा आसुर, गांधर्व, पैशाच और राक्षस को अप्रशस्त माना गया था।[1] इनके अतिरिक्त स्वयंवर की प्रथा भी प्रचलित थी। वर्ण के आधार पर सवर्ण और असवर्ण प्रकारों की सूचना मिलती है। सवर्ण विवाह का तात्पर्य उस विवाह से है जिसमें वर और कन्या एक ही वर्ण के हों। जब दोनों के वर्ण असमान अर्थात् भिन्न-भिन्न हों, तो उनके विवाह को असवर्ण विवाह कहा गया है। असवर्ण के अंतर्गत अनुलोम और प्रतिलोम उपप्रकारों को समाविष्ट किया गया है। अनुलोम में वर का वर्ण कन्या के वर्ण से ऊँचा होता था, जैसे वर का वर्ण ब्राह्मण और कन्या का क्षत्रिय हो। प्रतिलोम में इसके विपरीत वर का वर्ण कन्या के वर्ण से नीचा होता था, जैसे वर का वर्ण क्षत्रिय हो और कन्या का ब्राह्मण। संक्षेप में, सवर्ण विवाह से वर्ण की शुद्धि बनी रहती है और असवर्ण विवाहों के परिणामस्वरूप वर्ण-मिश्रण हो जाता है और इसी को प्राचीन भारतीय लेखकों ने वर्णसंकर अथवा संकर कहा है।

वर्ण-मिश्रण के अर्थ में संकर शब्द का प्रयोग सूत्रकाल में मिलता हैं। गौतम के विचार में ब्राह्मणों और क्षत्रियों पर समृद्धि, रक्षा, वर्णों का मिश्रित न होना (असंकर) और धर्म निर्भर करते हैं।[2] बौधायन धर्मसूत्र में उन्हें व्रात्य कहा गया है, जो वर्णसंकर से उत्पन्न

---

१. प्रभु : हिन्दू सोशल आरगॆनाइज़ेशन, पृ. १५३ और आगे;
काणे : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ०, ५१६ और आगे।

२. प्रसूतिरक्षणमसंकरो धर्मः।
गौतम, १, ८, ३.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हुए हों, अर्थात् जिनके माता व पिता विभिन्न वर्णों के हों।[1] बृहस्पति के अनुसार अनुलोम व प्रतिलोम, दोनों हो प्रकारों को वर्णसंकर का कारण समझना चाहिए।[2]

महाभारत में वर्णसंकर की चर्चा अनेक बार की गई है। अनुशासन पर्व में धन की लालच, काम की भावना तथा अज्ञान को इसके लिए उत्तरदायी बताया गया है।[3]

भगवद्गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से युद्ध के दोषों की चर्चा करते हुए कहा,[4] "अपने ही कुल के लोगों को मारना एक पापपूर्ण कार्य है।

---

१. वर्णसंकरादुत्पन्नान्व्रात्यानाहुर्मनीषिणो।
बौधायन, १, ९, १५.

२. ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णाश्चान्त्यास्त्रया द्विजाः।
प्रतिलोमानुलोमाश्च ते ज्ञात्वा....
कृत्यकल्पतरु में बृहस्पति।
काणे : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. ५९ पर उद्धृत।

३. अर्थलोभाद्कामद्वा वर्णानां चाप्यनिश्चयात्।
अज्ञानाद्वापि वर्णानां जायते वर्णसंकरः॥ महा, अनुशासन, ४८, १.

४. कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत॥
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः॥
संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः॥
दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः॥ गीता, १, ३९-४३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुल-क्षय के दोषों को जानने वाले हम लोगों को इससे बचना चाहिए। कुल-नाश से कुल-धर्म नष्ट होते हैं और धर्म-हानि से समस्त कुल अधार्मिक हो जाता है। अधर्म के कारण कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और ऐसा होने पर वर्णसंकर की स्थिति हो जाती है। वर्णसंकर के कुपरिणामस्वरूप नरक की प्राप्ति होती है और इसके प्रभाव से पितृगण भी नहीं बच पाते। उनका भी पतन होता है। इस प्रकार कुल का नाश करने वाले, वर्णसंकर, जाति और कुल के धर्म के ह्रास के लिए उत्तरदायी होते हैं।"

मनु ने वर्णसंकर के कारणों के रूप में व्यभिचार और स्वधर्म के परित्याग का उल्लेख किया है[1] और वर्णसंकर की निन्दा करते हुए कहा है कि जहां वर्ण को दूषित करने वाले होते हैं, वह राष्ट्र समस्त प्रजा सहित शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।[2] मनु ने वर्णसंकरों के निवास-स्थान, व्यवसाय तथा आचार-विचार आदि का अन्य वर्णों से भिन्न होना उचित मानते हुए, इन विषयों की चर्चा की है।[3]

वर्णों से जातियों की उत्पत्ति

वर्ण और जाति में महान अन्तर है, यद्यपि कभी कभी दोनों के लिए caste शब्द का व्यवहार किया जाता है। मनु के अनुसार केवल चार ही वर्ण हैं, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। पाँचवाँ कोई

---

१. व्यभिचारेण वर्णानामवेद्यावेदनेन च।
स्वकर्मणां च त्यागेन जायन्ते वर्णसंकरा॥
मनु, १०, २४.

२. यत्रत्वेते परिध्वंसाज्जायन्ते वर्णदूषकाः।
राष्ट्रिकैः सह तद्राष्ट्रं क्षिप्रमेव विनश्यति॥
वही १०, ६१.

३. वही, १०, ४७ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भी वर्ण नहीं है[1] जबकि जातियाँ अनेक हैं। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से सूचना मिलती है कि वर्णों का मिश्रण ही जातियों की उत्पत्ति का कारण है और मनु स्मृति में विभिन्न वर्णों के पति-पत्नी की सन्तानों को पृथक् वर्ग का माना गया है। इसी क्रम के परिणामस्वरूप जातियों की संख्या में भी वृद्धि हुई।[2]

सवर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तान सजातीय कही गयी है अर्थात् उसका वर्ण वही होता है, जो उसके माता पिता का हो।[3] उदाहरणार्थ—

पिता का वर्ण	माता का वर्ण	सन्तान का वर्ण
ब्राह्मण	ब्राह्मण	ब्राह्मण
क्षत्रिय	क्षत्रिय	क्षत्रिय
वैश्य	वैश्य	वैश्य
शूद्र	शूद्र	शूद्र

यदि द्विज वर्ण के पुरुष अपने से एक श्रेणी नीचे वाले वर्ण की स्त्री से सन्तान उत्पन्न करे तो सन्तान का वर्ण पिता के समान होगा[4]। उदाहरणार्थ—

---

१. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।।
वही, १०, ४.

२. वही, १०, ६—४०.

३. सर्वणेषु तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन सम्भूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते।।
वही, १०, ५.

४. स्त्रीष्वनन्तरजातासु द्विजैरुत्पादितान्सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान्।।
वही, १०, ६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पिता का वर्ण	माता का वर्ण	सन्तान का वर्ण
ब्राह्मण	क्षत्रिय	ब्राह्मण
क्षत्रिय	वैश्य	क्षत्रिय
वैश्य	शूद्र	वैश्य

लेकिन यदि माता पिता के वर्ण में अधिक श्रेणियों का अन्तर हो तो, निम्नांकित तालिका के अनुसार, सन्तान को एक तीसरे ही वर्ग का मानना चाहिए ।[1]

पिता का वर्ण	माता का वर्ण	सन्तान का वर्ण
ब्राह्मण	वैश्य	अम्बष्ठ
ब्राह्मण	शूद्र	पारशव
क्षत्रिय	शूद्र	उग्र
क्षत्रिय	ब्राह्मण	सूत
वैश्य	क्षत्रिय	मागध
वैश्य	ब्राह्मण	वैदेह
शूद्र	वैश्य	आयोगव
शूद्र	क्षत्रिय	क्षत्ता
शूद्र	ब्राह्मण	चण्डाल
ब्राह्मण	उग्र	आवृत
ब्राह्मण	अम्बष्ठ	आभीर
ब्राह्मण	आयोगव	धिग्वण
निषाद	शूद्र	पुक्कस
शूद्र	निषाद	कुक्कुटक
क्षत्ता	उग्र	श्वपाक
वैदेह	अम्बष्ठ	वेण
ब्राह्मण	ब्राह्मण	व्रात्य

१. वही, १०, ७ और आगे ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षत्रिय	क्षत्रिय	व्रात्य
वैश्य	वैश्य	व्रात्य[1]
व्रात्य ब्राह्मण	ब्राह्मण	भूर्जकण्टक, आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध या शैख
व्रात्य क्षत्रिय	क्षत्रिय	झल्ल, मल्ल, निच्छवि, नट, करण, खश या द्रविड़
व्रात्य वैश्य	वैश्य	सुधन्वाचार्य, कारुष, विजन्मा, मैत्र या सात्वत
दस्यु	आयोगव	सैरिन्ध्र
वैदेह	आयोगव	मैत्रयक
निषाद	आयोगव	मार्गव, दास या कैवर्त
निषाद	वैदेह	कारावर, चर्मकार
वैदेह	निषाद	अन्ध्र
वैदेह	कारावर	मेद
चण्डाल	वैदेह	पाण्डुसोपाक
निषाद	वैदेह	आहिण्डक
चण्डाल	पुक्कस	सोपाक

इसी प्रकार इस क्रम के चलते रहने अर्थात् इन अनुलोमज और प्रतिलोमज संतानों के भी विभिन्न जातियों और वर्णों की कन्याओं से विवाह के परिणामस्वरूप उत्पन्न संतानों के कारण नये नये वर्गों का अस्तित्व हुआ[2] और कालांतर में, संभवतः ये ही जातियाँ बन गईं।

---

१. जो व्रत तथा सावित्री मन्त्र का पाठ न करें, अर्थात् कर्तव्य और धर्मच्युत हों, उन्हें व्रात्य कहा गया है।
द्विजातयः सवर्णासु जनयन्त्यव्रतांस्तु यान्।
तान्सावित्रीपरिभ्रष्टान्व्रात्यानिति विनिर्दिशेत्॥
वही, १०, २०.

२. वही, १०, २६ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ण-मिश्रण और जन्म के अतिरिक्त, विहित आचरण न करने के कारण वर्णहीनता हुई, जिससे कुछ नई जातियाँ अस्तित्व में आईं। पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, चीन, किरात दरद और खश आदि क्षत्रिय ब्राह्मणों का दर्शन न करने के कारण (अर्थात् यज्ञ न करवाने के कारण, अध्ययनादि न करने के कारण) और विहित क्रियालोप होने के कारण शूद्र के समान माने गये।[1]

वर्ण-व्यवस्था और सामाजिक जीवन

वर्णजनित भेद-भाव सामाजिक जीवन में था। विवाह के प्रकार का प्रशस्त व अप्रशस्त होना, जिसका विवाह हो रहा हो, उसके वर्ण पर निर्भर करता था। उदाहरणार्थ, कन्या का अपहरण कर उससे विवाह करना क्षत्रियों के लिए अनुमित ही नहीं, उचित और प्रशस्त भी समझा जाता था। महाभारत में सुभद्रा-हरण से सम्बन्धित सूचना मिलती है।[2] पूजा करने के बाद, रैवतक पर्वत से द्वारिका लौटती हुई सुभद्रा का अपहरण अर्जुन ने किया। सुभद्रा के साथ गये लोगों ने द्वारिका पहुँच कर इसकी सूचना सभापाल को दी। सभापाल ने एक वाद्य बजाया, जिसे सुनकर अंधक, वृष्णि और भोज तुरन्त ही सभा-भवन में एकत्रित हुए। आकस्मिक सभा का प्रयोजन जान, लोगों ने अर्जुन के इस व्यवहार को आपत्तिजनक और अपमानजनक बताया। श्रीकृष्ण ने इसके

---

१. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदाः पह्लवाश्चीनाः किराता दरदा खशाः॥
वही, १०, ४३-४.

२. महा, आदि, अध्याय २१९–२०।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विपरीत कहा, "अर्जुन क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय के लिए इस प्रकार का विवाह उचित है। अत. वे सम्मान के योग्य हैं।[१]"

मनु ने विवाह के आठ प्रकारों का उल्लेख किया है, जिनके नाम हैं—ब्राह्म, देव, आर्ष. प्राजापत्य, आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच।[२] ब्राह्मण के लिए प्रथम ६ प्रकार के विवाह, क्षत्रिय के लिए अन्त वाले ४ प्रकार के विवाह, और वैश्य तथा शूद्र के लिए राक्षस को छोड़कर अन्य तीन प्रकार के विवाह (बाद में उल्लिखित) का विधान है। ब्राह्मण के लिए प्रथम चार प्रकार, क्षत्रियों के लिए राक्षस प्रकार और वैश्यों तथा शूद्रों के लिए पैशाच प्रकार को विहित बताया गया है। क्षत्रिय के लिए पैशाच तथा राक्षस विवाह, अलग-अलग या मिश्र अर्थात् मिले हुए प्रशस्त हैं।[३] बौधायन ने भी विभिन्न वर्णों के लिये विभिन्न प्रकारों को विहित बताया है।[४]

---

१. स्वयवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः॥
प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः॥ वही, २१९,२१—२.

२. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथाऽसुरः।
गांधर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥
मनु ३, २१। देखिये बौधायन, १, ११, १ और आगे।

३. षडानुपूर्व्या विप्रस्य क्षत्रस्यचतुरोऽवरान्।
विट्शूद्रयोस्तु तानेव विद्याद्धर्म्यानराक्षसान्॥
चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः॥
पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्वचोदितौ।
गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृतौ॥
वही, ३, २३—२४, २६.

४. बौधायन, १, ११, १३ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पत्नियों की संख्या भी वर्णानुसार अलग-अलग होती थी। बौधायन ने ब्राह्मणों के लिए चार, क्षत्रियों के लिए तीन, वैश्यों के लिए दो और शूद्रों के लिए केवल एक ही पत्नी विहित बतायी थी।[१] विभिन्न वर्णों के लिए पत्नियों की संख्या की विभिन्नता का कारण संदिग्ध है। शूद्र के लिए एक ही पत्नी की अनुमति सम्भवतः उसकी धार्मिक परतन्त्रता के कारण रही हो, लेकिन ब्राह्मण भी तो आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र नहीं थे क्योंकि वे अध्यापन, याजन और प्रतिग्रह के लिए, अन्य वर्णों द्वारा दी गयी वस्तुओं पर निर्भर रहते थे। चार पत्नियाँ और उन सबके बच्चों का पालन उनके लिए एक गम्भीर समस्या होती रही होगी। क्षत्रियों का कर्त्तव्य युद्ध में भाग लेना था। युद्ध क्षेत्र में ही उसकी मृत्यु प्रशंसनीय थी, घर में नहीं। ऐसी अवस्था में लम्बा परिवार रखने में उसके लिए व्यवहारिक कठिनाइयाँ अनिवार्य रही होंगी। आर्थिक दृष्टि से वैश्य सबसे अधिक समर्थ होते थे अतः उनके लिए सबसे अधिक पत्नियाँ रखने का विधान होना चाहिए था।

शिक्षा के क्षेत्र में भी सब वर्ण समान नहीं थे। उपनयन संस्कार केवल द्विज वर्णों के लिए ही बताया गया था। शूद्रों के लिए वर्जित था। दूसरे शब्दों में आश्रम-व्यवस्था भी वर्ण से प्रभावित थी, जिसका अध्ययन अगले अध्याय में किया जायगा। विद्या-प्राप्ति में निम्नोत्पत्ति एक गंभीर बाधा थी। एकलव्य का उदाहरण[२] इस संबंध में

---

१. चत्वारो वर्णा ब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्राः ।। तेषांवर्ण्यानुपूर्व्वेण चतस्रो भार्या ब्राह्मणस्य ।। तिस्रो राजन्यस्य ।। द्वे वैश्यस्य ।। एका शूद्रस्य ।। बौधायन, १, ८, १ – ५,

२. ततो निषादराजस्य हिरण्यधनुषः सुतः ।
एकलव्यो महराज द्रोणमभ्याजगाम ह ।।
न स तं प्रतिजग्राह नैषादिरिति चिन्तयन्।
शिष्य धनुषि धर्मज्ञस्तेषामेवान्ववेक्षया ।।
महा, आदि, १३२, ३१-२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उल्लेखनीय है। एकलव्य निषादराज हिरण्यधनु का पुत्र था। वह द्रोणाचार्य से धनुर्विद्या सीखना चाहता था। द्रोणाचार्य ने उसके निषाद-पुत्र होने के कारण उसे शिष्यरूप में स्वीकार नहीं किया।[1] शूद्रों के लिये उपनयन संस्कार का विधान न होना भी इसी ओर संकेत करता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य 'द्विज' कहे जाते थे। उपनयनसंस्कार ही उनका दूसरा जन्म था। शूद्र एकजाति थे, क्योंकि उनके लिये उपनयन संस्कार वर्जित था।

वर्ण-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था

आजकल न्यायालयों में ऊँची या नीची जाति, अमीरी या गरीबी, धर्म आदि बातों के कारण किसी प्रकार की भिन्नता नहीं स्वीकार की गई है। लेकिन प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित सूचना यह स्पष्ट कर देती है कि एक ही अपराध के लिए ब्राह्मण को सबसे हल्का दण्ड, क्षत्रियों को उससे ज्यादा, वैश्य को और भी ज्यादा तथा शूद्र को सबसे कड़ा दण्ड दिया जाता था।[2] इसी प्रकार ब्राह्मण को क्षति पहुँचाने का मुआवजा सबसे ज्यादा और शूद्र को क्षति पहुँचाने का मुआवजा सबसे कम होना चाहिए। ब्राह्मण की हत्या का चतुर्थांश

---

१. एकलव्य धनुर्विधा प्राप्त करने के लिये कृतसंकल्प थे। लेकिन बिना गुरू के कोई भी विद्या कैसे संभव थी ? द्रोणाचार्य तो गुरु बनने को तैयार ही नहीं थे। अतः एकलव्य ने द्रोणाचार्य की मूर्ति को ही गुरु माना और उसी की आज्ञा लेकर धनुर्विधा का अभ्यास किया। जब द्रोणाचार्य को एकलव्य की इस विद्या के चातुर्य के विषय में पता चला तो उन्होंने अपने प्रिय शिष्य अर्जुन के हित को दृष्टि में रख कर, गुरु-दक्षिणा के रूप में एकलव्यका दाहिना अंगूठा मांग लिया, जिससे वह कभी भी धनुष-बाणका प्रयोग न कर सके। वही, आदि, अध्याय १३२-३।

२. गौतम, २, ३, १ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षत्रिय की हत्या करने पर, आठवाँ भाग वैश्य की हत्या करने पर, और शूद्र की हत्या करने पर विहित दण्ड का केवल सोलहवाँ भाग ही भुगतना पड़ता था।[1] मनु की दृष्टि में तो शूद्र और पशु समान है। शूद्र की हत्या करने पर ब्राह्मण को वही प्रायश्चित करना पड़ता था जो कि कुत्ते या बिल्ली को मारने पर।[2] अशोक द्वारा 'दण्ड-समता' और 'व्यवहार-समता' पर जोर देना भी इसी ओर संकेत है।

वर्ण-व्यवस्था और राजनीति

राज्य के उच्च पदों के लिए 'कुलीनता' को प्रशंसनीय योग्यता समझा जाता था। दूत, मंत्री और पुरोहित अधिकांशतः ब्राह्मण वर्ण के होते थे।[3] कभी-कभी शूद्र मंत्री के उल्लेख मिलते हैं लेकिन इनका अनुपात बहुत कम है।[4] कर्ण इसके अपवाद हैं।[5] शूद्र राजा भी भारतीय इतिहास में अज्ञात नहीं हैं। इस संबंध में नंद वंश का उल्लेख

---

१. तुरीयो ब्रह्महत्यायाः क्षत्रियस्य वधे स्मृतः।
वैश्येऽष्टमांशो वृत्तस्थे शूद्रे ज्ञेयस्तु षोडशः॥
मनु, ११, १२६.

२. वही, ११, १३१.

३. दूत कभी-कभी कटु संदेश लेकर जाते थे। संभवतः ब्राह्मण को दूत बनाने का यह भी एक कारण हो कि उसके ब्राह्मण होने के कारण उसे कोई भी नहीं मारेगा, क्योंकि ब्रह्म-हत्या एक घृणित पाप समझा जाता था।

४. महा, शांति, ८५, ७-९.

५. कर्ण कुंती के कानीन (अर्थात् विवाह से पहले ही, कन्यावस्था में उत्पन्न) पुत्र थे, जिन्हें सामान्यतया लोग सूत के पुत्र के रुप में जानते थे।
वही, आदि, १००, २३; ११०, २३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

किया जा सकता है। देशी और विदेशी प्रमाणों में कहा गया है कि उनकी जाति निम्न थी और इस कारण वे निंदित समझे जाते थे।[१]

कहीं कहीं ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के साथ शूद्रों का भी उल्लेख किया गया है। सभा में उनकी उपस्थिति की सूचना महाभारत से मिलती है।[२] यज्ञादि में वे भी आमंत्रित किये जाते थे।[३] ऐसे अवसरों पर उन्हें भी उपहार दिये जाते थे।[४] युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के समय सम्मानित शूद्र भी आमंत्रित थे।[५]

युद्ध करना क्षत्रियों के लिए मुख्यतः विहित था, यद्यपि विशेष परिस्थितियों में ब्राह्मणों और वैश्यों को भी शस्त्र-ग्रहण करने की अनुमति दी जाती थी। शूद्रों को आपत्तिकाल में भी ऐसा करने का निर्देश नहीं दिया गया है।[६] इस सम्बन्ध में महाभारत युद्ध का उल्लेख किया जा सकता है, जिसके भीषण रक्तपात और जन-हानि का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सब पुरुष युद्ध में काम आ चुके थे और

---

१. राजवली पाण्डेय: प्राचीन भारत, पृ. ११२.

२. समुत्थिता सा हि सभा सपार्थिवा।
सविप्रराजन्यविशः सशूद्रकाः॥
महा, विराट, ९, २५। कोटियाल : दि पोज़िशन ऑफ़ दि शूद्रज़ ऐण्ड दि अनटचेबल्स इन एंशण्ट इण्डिया (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का एक शोध प्रबंध), पृ. ११७ पर उद्धृत।

३. निमंत्रयस्व नृपतीन् पृथिव्यां ये च धार्मिकाः।
ब्राह्मणान् क्षत्रियान् वैश्यान्शूद्रांश्चैव सहस्रशः॥
रामायण, बालकाण्ड, १३, २०.

४. महा, आश्वमेधिक, ९०, २४–५.

५. आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानपि।
विशश्च मान्यान्शूद्रान् सर्वानानयतेति च॥
वही, सभा, ४१–२.

६. देखिए आपद्धर्म, पृ. ५५ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Preservation Foundation, Chandigarh

जगत् में करीब-करीब स्त्रियाँ ही बच गयीं थी।[१] तो क्या शूद्रों ने भी युद्ध में सक्रिय भाग लिया था? या वे इतने नगण्य थे कि इनका होना या न होना बराबर था? यह भी सम्भव है कि यह अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन हो।

वर्णाश्रम-व्यवस्था को बनाये रखना राजा का कर्तव्य था।[२] कालिदास के अनुसार राजा इस कर्तव्य का पालन करते भी थे।[३] अभिलेखों से भी वर्ण-व्यवस्था के अस्तित्व के विषय में सूचना मिलती है। रुद्रदामन के जूनागढ़ अभिलेख में उसे सब वर्णों के द्वारा अपना स्वामी बनाने का उल्लेख है।[४] खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख[५], पुलुमावि के नासिक अभिलेख[६], और खोह ताम्रपत्र अभिलेख[७] से सूचना मिलती है कि राजा वर्णाश्रम-धर्म की स्थापना का ओर समुचित ध्यान देते थे।

वर्ण-व्यवस्था तथा धार्मिक और आर्थिक जीवन

धार्मिक और आर्थिक जीवन भी वर्ण-व्यवस्था से अप्रभावित नहीं

१. प्रायः स्त्रीशेषमभवज्जगत्…।
   महा, शल्य, ७, ३५.
२. देखिये पीछे, पृ. ५३.
३. शाकुंतलम्. ५, १०.
४. सर्ववर्णैरभिगम्य रक्षणार्थं पतित्वे वृतेन।
   जूनागढ़ अभिलेख। देखिये डी. सी. सरकार: सिलेक्ट इंस्क्रिप्शन्श, पृ. १७१.
५. वही, पृ. २०८.
६. वही, पृ. १९७.
७. वर्णाश्रम-धर्म्म-स्थापना-निरतेन परमभागवतेन…।
   वही, पृ. ३७५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

थे। इन विषयों में चारों वर्णों को समान सुविधाएँ नहीं दी गयी थीं। पूर्व वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था में कठोरता नहीं थीं, लेकिन उत्तर वैदिक काल में उन्हें अन्य द्विज वर्णों से सर्वथा भिन्न और धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए सर्वथा अयोग्य समझा जाता था। कालांतर में स्थिति और भी बिगड़ती ही गयी। वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे। धार्मिक कार्यों के लिये केवल ब्राह्मण ही योग्य समझे जाते थे। क्षत्रिय और वैश्य केवल अपने लिए यज्ञ कर सकते थे और शूद्र इन कार्यों के लिए अयोग्य बताये गये थे।[1]

आर्थिक उपलब्धियाँ भी शूद्र के लिए संभव नहीं थीं। उसके लिए केवल एक ही कार्य विहित था और वह था द्विज-सेवा, जिसके पारिश्रमिक के रूप में जो कुछ भी मिलता था, वही उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन था। उसके लिए धन-संग्रह भी अनुचित माना गया है क्योंकि ऐसा होने पर वह ब्राह्मणो को ही पीड़ा पहुँचाता।[2] तात्पर्य यह है कि वह स्वयं धनी होने कारण द्विज-सेवा से विमुख हो जाता।

वर्ण-व्यवस्था के उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि वर्ण प्राचीन भारतीय सामाजिक संगठन के आधार समझे गये थे। धार्मिक जीवन, राजनैतिक जीवन, आर्थिक जीवन और सामाजिक जीवन, सभी इनसे प्रभावित थे अर्थात् व्यक्ति की धार्मिक, शैक्षिक, राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक स्वतंत्रता तथा अधिकारों का निर्धारण उसके वर्ण के अनुसार किया जाता था।

आजकल की परिस्थितियों में वर्ण-व्यवस्था की व्यवहारिकता के

१. देखिये पीछे, पृ. १७ और आगे।

२. शक्तेनापि हि शूद्रेण न कार्यो धनसंचयः।
शूद्रो हि धनमासाद्य ब्राह्मणानेव बाधते।।
मनु, १०, १२९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विषय में संदेह होता है।[१] आज सभी समान समझे जाते हैं। किसी भी क्षेत्र में किसी पर प्रतिबंध अनुचित ही नहीं, असंवैधानिक भी समझा जाता है। क्या यह संभव है कि वर्ण के कारण बौद्धिक स्तर में इतनी असमानता हो कि जो पाठ १२ वर्ष का वैश्य सीखे वह ब्राह्मण ५ ही वर्ष की आयु में सीख सके और शूद्र उसके लिए सर्वथा अयोग्य रहे ? प्राचीन काल में निम्नजातीय एकलव्य जैसे प्रतिभाशाली बालक भी तो थे। आज कल ऊँच और नीच सभी सब कामों के लिए योग्य समझे जाते हैं। सरकार तो पिछड़ी और अनुसूचित जातियों को विशेष रूप से प्रोत्साहित करती है।

स्पष्ट है कि प्राचीन भारतीय समाज में चारों वर्णों में ऊँच-नीच की भावना थी। इसका कारण चाहे ब्राह्मणों की बुद्धि रही हो या उनकी कपट-योजना, लेकिन यह व्यवस्था ऐसी थी, जिसका प्रभाव आज भी हमारे समाज पर है। इसे शीघ्र दूर करना कदापि संभव नहीं हैं। शहरों में ये भेदभाव क्रमशः कम होते जा रहे हैं लेकिन वास्तविकता तो ग्रामीण जीवन से जानी जा सकती है। वहाँ आज भी, खान-पान और विवाहादि के अवसरों पर इन बातों का कठोरता से पालन किया जाता है, यद्यपि आज कल वर्णों को नहीं, जातियों को भिन्नता का आधार माना जाता है।[२]

---

१. वर्ण-व्यवस्था के विषय में परस्पर-विरोधी मत भी मिलते हैं। उदाहरणार्थ, एक ओर तो लड़ाई करना, युद्ध क्षेत्र से न भागना और वहीं अपनी मृत्यु को श्रेयस्कर समझना क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्तव्य बताया गया है और दूसरी ओर खेती को हिंसाप्रधान मानते हुए, आपत्तिकाल में भी उसे क्षत्रिय के लिये अनुचित माना है। पृ. ६४,

२. काणे : पूर्वोल्लिखित कृति पृ. २२। घुर्ये : कास्ट, क्लास ऐण्ड ऑक्यूपेशन, पृ. ९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आज कल के समाज में वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप और स्थान चाहे जो भी हो, भारतीय जीवन और संस्कृति पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा, यह निर्विवाद है। इसी कारण, जैसा कि बैशम ने कहा हैं अनेक जातियों का उत्कर्ष और अपकर्ष हुआ, उनकी संख्याओं में परिवर्तन हुआ लेकिन वर्ण केवल चार ही हैं।[१] संवैधानिक समानता होने पर भी जन्म-गत भेद-भाव आज भी वर्तमान है।

1. "Castes rise and fall in the scale, old castes die out and new ones are formed, but the four great classes are stable. They are never more or less than four, and for over 2000 years their order of precedence has not altered".
The Wonder that was India. p. 148.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आश्रम-व्यवस्था

'श्रम' धातु से उत्पन्न[१] आश्रम शब्द के कई अर्थ हैं, उदाहरणार्थ तपस्वियों की कुटिया[२], वह स्थान जहाँ तपस्वी तप का अभ्यास करते हैं, विद्यालय अथवा मानव-जीवन की चार अवस्थाएँ, जिनके नाम क्रमशः ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम और सन्यासाश्रम हैं।[३] आश्रम-व्यवस्था का तात्पर्य इसी अन्तिम अर्थ से है।

समस्त प्राणियों में मनुष्य ने अपनी विवेक बुद्धि के कारण विशेषता पाई। उसने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार क्रमशः विकास किया और जीवन को सार्थक बनाने की चेष्टा की। प्राचीन भारतीय विचारकों ने चार पुरुषार्थों को मानव-जीवन का प्रयोजन माना और इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विशेष प्रकार के श्रम को आवश्यक और अनिवार्य माना।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने मानव-जीवन को चार अवस्थाओं में बाँटा और प्रत्येक के लिए विशेष प्रकार की आचारावली का विधान किया। ब्रह्मचर्य जीवन का पहला आश्रम था, जिसमें मनुष्य इन्द्रिय-

१. आङ् + श्रम + घञ। शब्दकल्पद्रुमः। आ + श्रम + आधारे वञ् अवृडिः। तारानाथः वाचस्पत्यम्। अमरकोष, पृ. २८७—८ भी देखिये।

२. उदाहरणार्थ रामायण, अरण्य, अध्याय १२ में अगस्त्य का आश्रम।

३. आप्टे : स्टूडेण्ट्स संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

संयम का अभ्यास करते हुए विद्या-प्राप्त करता था। शिक्षा समाप्त होने पर वह विवाह करने के साथ ही जीवन के दूसरे भाग, गृहस्थाश्रम, में प्रवेश करता था। तीसरा आश्रम वानप्रस्थ के नाम से जाना गया है, और जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, इसमें वह वन को प्रस्थान करता था और वहाँ सीमित आवश्यकताओं वाला जीवन व्यतीत करता था। सन्यासाश्रम जीवन की अन्तिम अवस्था से सम्बन्धित था और पूर्ण त्याग ही इसकी विशेषता थी। आश्रम-धर्म का तात्पर्य इन चारों के लिए विहित विभिन्न धर्मों से है।

आश्रम-व्यवस्था की प्राचीनता

मनुष्य स्वभावतः एक सामाजिक प्राणी है। वह सदा सर्वदा से ही समुदाय में रहता आया है, जिसकी सबसे छोटी इकाई परिवार है। प्रारम्भ में जब विवाह की प्रथा अप्रचलित रही होगी, उस समय परिवार का क्या स्वरूप रहा होगा, इसकी झलक महाभारत से मिलती है। श्वेत-केतु के पिता उद्दालक के सामने ही उनकी माता को एक ब्राह्मण पकड़कर ले जाने लगा। यह देख श्वेतकेतु ने इस पर आपत्ति की लेकिन उद्दालक ने इसे 'सनातन धर्म' बताया। इस घटना से दुःखी श्वेतकेतु ने उस समय स्त्री और पुरुष की मर्यादा को स्थापित किया।[1] इस सम्बन्ध में पाण्डु ने बताया कि इससे पहले स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक कामाचार करती थीं।[2] इस प्रसंग से यह सहज कल्पना की जा सकती है कि विवाह और स्थायी परिवार की आवश्यकता का अनुभव इन्हीं से मिलती

१. महा, आदि, १२२, ९—२०.
२. अनावृताः किल पुरा स्त्रिय आसन्वरानने।
कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनी॥
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन्।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराभवत्॥
वही, १२२, ४—५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जुलती परिस्थितियों और वातावरण में किया गया होगा। इस प्रकार स्थायी और व्यवस्थित परिवार अति प्राचीन काल से ही सामाजिक जीवन के आधार रहे हैं, यद्यपि इन्हें आश्रम की संज्ञा नहीं दी गयी थी।

वेदों और ब्राह्मणों में आश्रम शब्द का प्रयोग नहीं मिलता लेकिन जैसा कि हम इसी अध्याय में देखेंगे, वहाँ भी विद्यार्थियों, गृहस्थों तथा यतियों और मुनियों के अनेक उल्लेख हैं। आश्रम-व्यवस्था का प्राचीनतम संकेत संभवतः ऐतरेय ब्राह्मण में माना जा सकता है। लेकिन आश्रमों के आधार पूर्व वैदिक काल में ही वर्तमान थे, ऐसा निर्विवाद है।[1]

महाभारत में आश्रमों को ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न बताया गया है।[2] दैवीउत्पत्ति बताने का उद्देश्य आश्रम-व्यवस्था को उपादेय बनाना था। बौधायन धर्मसूत्र से, इस संबंध में एक रोचक और असाधारण सूचना मिलती है। वहाँ कहा गया है कि प्रह्लाद के पुत्र, कपिल, ने देवताओं के प्रति स्पर्धा होने के कारण इस व्यवस्था को उत्पन्न किया और बुद्धिमान लोगों को इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए।[3] ऐसा

---

१. काणे: हिस्ट्री ऑफ़ धर्म शास्त्र भाग २, पृ. ४२०.

२. पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा··· ।
महा, शांति, १९१, ८.

३. ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम् ॥
तत्रोदाहरन्ति—प्रह्लादिर्ह वै कपिलो नामाऽसुर आस ॥ स·
(तान्भेदांश्चकार देवैस्सह स्पर्धमानस्तान् मनीषीनाऽऽद्रियेत ॥
उद्दिष्टत्वात् । 'ये चत्वार' इति कर्मवाद ऐष्टिकपाशुकसौमिक—
दार्विहोमाणाम् ॥
बौधायन धर्मसूत्र, २, ६, २९-३१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्यों कहा गया है ऐसा निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता। संभवत: ऐसा कहने का उद्देश्य गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता प्रतिपादित करना हो, क्योंकि अन्य आश्रमों में यज्ञों का विधान नहीं था और उससे देवताओं की शक्ति में ह्रास होता है, ऐसा माना जाता रहा हो।[1]

आश्रमों की संख्या

आश्रमों की संख्या के विषय में विद्वानों में विवाद है। मोदी के अनुसार प्रारंभ में केवल तीन ही आश्रम थे और उस समय वानप्रस्थ और सन्यासाश्रमों को भिन्न नहीं समझा जाता था।[2] अपने इस मत की पुष्टि के लिए उन्होंने छांदोग्य उपनिषद् और मनुस्मृति को आधार माना है। छांदोग्य उपनिषद् के अनुसार "धर्म के तीन आधारस्तंभ हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान—ये प्रथम स्कंध के अंतर्गत समाविष्ट हैं। दूसरा स्कंध है तप और तीसरे स्कंध का सबंध आचार्यकुल में रहने वाले उस ब्रह्मचारी से है, जो अपने शरीर को क्षीण कर देता है। ये सभी पुण्य लोक को प्राप्त करते हैं। ब्रह्मसंस्थ अमरत्व की प्राप्ति करता है"।[3] 'ब्रह्मसंस्थ' शब्द के कारण यह स्थल विवादग्रस्त है। मोदी के अनुसार यह तीनों स्कधों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है, जबकि रानाडे के मत में इसका तात्पर्य सन्या-

---

१. काणे : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. ४१७.

2. Development of the Syst m of Ashramas, Th e proceedings and Transactions of All-India Oriental Conference, Decem er 1933, Baroda.

३. त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति ॥
छान्दोग्य, २, २३, १.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
साश्रम से है।[१] प्रभु भी रानाडे के ही मत के समर्थक हैं।[२] काणे के अनुसार ब्रह्मसस्थ और तीनों आश्रमों में अंतर है। ब्रह्मसंस्थ का तात्पर्य उससे है, जिसे ब्रह्मविषयक ज्ञान हो जिसका परिणाम अमरत्व की प्राप्ति है।[३] हम आगे देखेंगे कि प्रारम्भ में वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों को भिन्न नहीं माना जाता था और जब कि उपनिषद् में तीन की निश्चित संख्या दी गई है, इसमें किसी प्रकार का सन्देह अस्वाभाविक और अनुचित प्रतीत होता है।

प्रारम्भ में तीन ही आश्रम थे, इस मत की पुष्टि करते हुए मोदी ने मनुस्मृति को भी उद्धृत किया है। मनु ने एक स्थान पर तीन आश्रमों का ही उल्लेख किया है।[४] इसी कृति में अन्यत्र कहा गया है, "जिस प्रकार समस्त प्राणी वायु का आश्रय लेकर जीवित रहते हैं, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम अन्य सब आश्रमों का आश्रय है। गृहस्थाश्रम से ही तीनों आश्रम ज्ञान व आहार प्राप्त करते हैं, अतः गृहस्थाश्रम ही

---

१. रानाडे : ए कन्सट्रक्टिव सर्वे ऑफ़ उपनिषदिक फ़िलासफी (पूना, १९२६), पृ. ६०–६१.

२. प्रभु: हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन, पृ० २४.

3 "Therefore, in this passage it is possible to hold that three Ashramas (cf student, householder, and vanaprastha,) are mentioned. The last clause about 'brahmasamstha' differentiatates the three ashramas from him, who has knowledge of brahma and holds fast by it. That portion says that the consequence of the knowledge of brahma is immortality; but it does not say expressly or impliedly that the stage of parivrajaka is a means of attaining the knowledge of brahma."

काणे : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. ४२०–२१.

४. त एव त्रय आश्रमाः। मनु, २, २३०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सर्व श्रेष्ठ है।'[१] इससे तीन ही आश्रमों का अस्तित्व मानना अनुचित है, क्योंकि यहाँ तीन की संख्या के अंतर्गत गृहस्थाश्रम का समावेश नहीं है और फ़िर मनुस्मृति में तो चारों आश्रमों की चर्चा विस्तार से की गई है।

इस प्रकार आश्रमों की मौलिक संख्या के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। छांदोग्य उपनिषद् में उनकी संख्या का तीन होना तो निर्विवाद है। बाद में वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के अलग-अलग किये जाने पर इनकी संख्या चार मानी गयी। मनुस्मृति के रचना काल और एक-दो स्थानों को छोड़ कर इसमें सर्वत्र चार आश्रमों का उल्लेख इस बात का स्वत: प्रमाण है कि इसे आश्रमों की मौलिक संख्या तीन मानने के लिए प्रामाणिक मानना उचित नहीं है।

आश्रमों का क्रम

आश्रमों के क्रम का तात्पर्य है कि इनका पालन किस क्रम से किया जाय। इस सम्बन्ध में तीन मत हैं—

— आश्रम समुच्चय, अर्थात् सबसे पहले ब्रह्मचर्य, फ़िर गृहस्थ उसके बाद वानप्रस्थ और अन्त में सन्यासाश्रम इस क्रम से आश्रम-धर्म के पालन का विधान।

—आश्रम विकल्प, अर्थात् आश्रमों के उपर्युक्त क्रम का उल्लंघन। उदाहरणार्थ, ब्रह्मचर्य के बाद सीधे वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना और

---

१. यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वजन्तव:।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्व आश्रमा:॥
यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
मनु, ३, ७७–८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

—बाध, अर्थात् किसी एक ही आश्रम को सर्वश्रेष्ठ मानना और अन्य आश्रमों को अपेक्षाकृत कम महत्व का मानना।

प्रभु के अनुसार उपनिषदों में आश्रमों के उल्लेख तो हैं यद्यपि उनका कोई क्रम विहित नहीं है। विद्यार्थी जीवन की समाप्ति के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना उसी प्रकार सम्भव था, जिस प्रकार इन दोनों कार्यों को साथ साथ करते रहना या ब्रह्मचर्य के बाद, गृहस्थाश्रम में प्रवेश किये बिना ही, वानप्रस्थी हो जाना।[1] लेकिन जाबाल उपनिषद् के मत में ब्रह्मचारी के बाद गृहस्थ, गृहस्थ के बाद वानप्रस्थी और वानप्रस्थी के बाद परिव्राजक या भिक्षु बनना चाहिए।[2] बौधायन के अनुसार इनका क्रमशः पालन करने से मनुष्य पवित्र हो जाता है। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाने के बाद यज्ञादि करने वाले और इन्द्रियों को वश में रखने वाले को भिक्षु (सन्यासी) बनना चाहिए।[3] वह मनुष्य ब्रह्मलोक में जाता है और वहाँ से कभी नहीं लौटता जो आचार्य-कुल में रह कर वेदाध्ययन करता है, जो सम्पूर्ण इन्द्रियों को अपने अंतःकरण में स्थापित करता है और जो आजीवन प्राणियों की हिंसा नहीं करता है।[4]

---

१. प्रभु : हिन्दू सोशल आर्गेनाइज़ेशन, पृ० ८५.

२. ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। जाबालोपनिषद्, ४.

३. आश्रमादाश्रममुपनीय ब्राह्मणपूतो भवतीति विज्ञायते ॥
आश्रमादाश्रमं गत्वा हुतोहोमो जितेन्द्रियः ॥
भिक्षाबलिपरिश्रान्तः पश्चाद्भवति भिक्षुक इति ॥
बौधायन, २, १०, १५-६.

४. आचार्य कुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिंसन्सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जैसा इसी अध्याय में बताया गया है महाभारत में आश्रम व्यवस्था के सभी पहलुओं से सम्बन्धित सूचना मिलती है। आश्रमों की कल्पना चार पदों वाली एक सीढ़ी से की गई है और इन चारों सीढ़ियों पर क्रमशः चढ़ते हुए (अर्थात् चारों आश्रमों का क्रमशः पालन करते हुए) ब्रह्मलोक में जाया जा सकता है।[1] महाभारत में ही इन्द्र और कुछ बाल-वानप्रस्थियों की कथा के द्वारा भी आश्रम-समुच्चय के महत्त्व को बताया गया है। एक बार कुछ ऋषि-बालक वानप्रस्थी हो गये। वहाँ उन्हें पक्षीरूपधारी इन्द्र ने बताया कि गृहस्थाश्रम के धर्मों का पालन करने के उपरांत, उचित समय आने पर वानप्रस्थी होना उचित है। वे बालक इंद्र की बात सुनकर अपने अपने घरों को लौट आये।[2]

स्मृतियों में भी इस क्रम का विधान मिलता है। (क्रमशः) "एक आश्रम से दूसरे आश्रम में (ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में और गृहस्थ से वानप्रस्थ आश्रम में) प्रवेश कर, हवन आदि करता हुआ और संयतेन्द्रिय रहता हुआ, भिक्षाटन और बलिकर्म में लगा हुआ मनुष्य

वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते। छान्दोग्य. ८. १५, १.

१. चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते॥
महा, शान्ति, २४२, १५.

निम्नांकित श्लोक में भी यही भाव व्यक्त किये गये है—
चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव॥
वही, २०, ४.

२. वही, अध्याय ११.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मरणोपरान्त ब्रह्मभूत होकर वृद्धि को प्राप्त करता है (अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता है)"।[१]

प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार त्रिऋण (ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण) को चुकाने के बाद ही मनुष्य को मोक्ष के लिए एकाग्रचित्त होना चाहिए। अन्यथा करने वाले का अधःपतन होता है।[२] त्रिऋणों से उऋण होने के लिए गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना अनिवार्य है। इस प्रकार आश्रम समुच्चय के अनुसार चारों आश्रमों का क्रमशः पालन करना चाहिए।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने मानव जीवन के चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की प्राप्ति से सम्बन्धित निर्देश दिये हैं। काम की प्राप्ति, व्यक्तित्व के विकास के लिए आवश्यक थी। अतएव आश्रम-समुच्चय का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया।

सामान्यरूपेण आश्रमों का विहित क्रमानुसार पालन करना उचित था, लेकिन कहीं-कहीं क्रम-भंग भी विहित बताया गया है। इसे ही आश्रम-विकल्प कहा गया है। जाबाल उपनिषद् में आश्रम समुच्चय के साथ साथ आश्रम विकल्प का भी उल्लेख है और गृहस्थाश्रम का अतिक्रमण करने की सम्भावना व्यक्त की गयी है।[३] वसिष्ठ ने ब्रह्मचारी को आजीवन गुरु के पास रहकर उनकी सेवा करने या आवश्यकतानुसार अन्य कार्यों को करने की सलाह दी है।[४]

---

१. मनु, ६, ३४.

२. वही, ६, ३५.

३. यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेवा प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत। जाबालोपनिषद्, ४.

४. ब्रह्मचार्याचार्यं परिचरेदाशरीरविमोक्षणात्।
वसिष्ठ, ७, ४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाध दृष्टिकोण के प्रतिपादक गौतम हैं। उन्होंने आश्रम विकल्प का भी उल्लेख किया हैं।[१] महाभारत में नकुल आश्रम विकल्प के पक्ष में नहीं हैं। उन्होंने ऐसे व्यक्ति को तामसी त्यागी माना है, जो गृहस्थाश्रम के सुखों का उपभोग किए विना ही देह त्यागता है।[२] ऐसा सम्भवतः इसलिए कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति न तो त्रिऋणों को ही चुकाता है और न तो उसे अर्थ और काम पुरुषार्थों की ही प्राप्ति होती है। चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति करने वाले को उससे श्रेष्ठ मानना उचित भी है।

सांसारिक कामनाओं को पूर्ण किए विना ही वन में जाने के कुछ और भी दोष हैं। वन में रहकर इन इच्छाओं को मनसा स्मरण करने को अपेक्षा फल का त्याग करते हुए घर में रहना, अधिक श्रेयस्कर है।[३] गृहस्थाश्रम में रहकर काम और स्वर्ग, दोनों की ही प्राप्ति संभव है, अतः घर छोड़ कर (असमय) वन में जाने वाला मूर्ख कहा गया है।[४]

बाध दृष्टिकोण के अनुसार चारों आश्रमों में गृहस्थाश्रम ही सर्वश्रेष्ठ है। उदाहाणार्थ, गौतम ने गृहस्थाश्रम को सबसे प्रधान माना है।[५]

---

१. तस्याश्रमविकल्पमेके ब्रुवते। गौतम, ३, १.

२. अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः॥
महा, शांति, १२, ९.

३. वही, शांति, १२, १४—१६.

४. समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत।
अयं पन्था महर्षिणामियं लोकविदां गतिः॥ वही, शांति १२, १३.

५. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः॥ तेषां गृहस्थो योनिरप्रजननत्वादितरेषाम्॥ गौतम, ३, २—३.
ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद्गार्हस्थस्य गार्हस्थस्य।
वही ३, ३५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

टीकाकार के अनुसार ऐसा इसलिए कहा गया है क्योंकि इसके ऊपर अन्य आश्रम, जो कि स्वतंत्र नहीं हैं, निर्भर करते हैं।[1] वसिष्ठ भी गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं[2] क्योंकि इसके अतिरिक्त अन्य तीनों आश्रमों में प्रजनन अर्थात् संतानोत्पत्ति संभव नहीं है[3] और वंश परम्परा को बनाये रखना महत्वपूर्ण हैं।[4]

महाभारत युद्ध की अतुल और अपूरणीय जन-हानि के कारण विचलित युधिष्ठिर ने राज त्याग कर, वन को प्रस्थान करने का निश्चय किया।[5] ऐसे अवसर पर नकुल ने उन्हें बताया कि उनके द्वारा किया गया निश्चय उचित नहीं है। नकुल ने गृहस्थाश्रम के महत्व और शेष तीनों आश्रमों में सम्मिलित महत्व को बराबर माना[6] क्योंकि केवल इसी आश्रम में देवताओं, पितरों और अतिथियों के लिए

---

१. ततः सर्व एवाऽऽचार्या गार्हस्थ्यस्यैकाश्रम्यं प्राधान्यं मन्यन्ते।
तत्राशक्तानामितराश्रमधर्मा विधीयन्ते। प्रत्यक्षविधानादितराश्रमाणां प्रत्यक्षेणोपजीव्यत्वात्।
उपर्युक्त पर मिताक्षरा टीका।

२. वसिष्ठ, ८, १४—६.

३. ऐकाश्रम्यं त्वाचार्या अप्रजननत्वादितरेषाम्।
वौधायन, २, ६, २९.

४. अपि च अप्रजननत्वादितरेषाम्। प्रजननमत्र पुत्रोत्पत्तिः। सा चेतरेषां नास्ति। तयां चाऽवश्यं भवितव्यमित्युक्तं 'प्रजातन्तुम्' इत्यादि श्रुतिप्रदर्शनेनेत्याह॥
उपर्युक्त पर टीका।

५. महा, शान्ति, अध्याय ९।

६. आश्रमांस्तुलया सर्वान् घृतानाहुर्मनीषिणः।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः।
वही, शांति, १२, १२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

...छ कार्य किये जा सकते हैं और धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति भी केवल इसी आश्रम में संभव है।[1]

आश्रमों के क्रम से सम्बन्धित इस चर्चा के अन्त में आपस्तंब धर्म-सूत्र[2] में व्यक्त विचार विचारणीय हैं। चाहे आश्रम का कोई भी क्रम क्यों न हो, जब तक उसके लिए बताये गये धर्मों का पालन यथोचित विधि से नहीं किया जायगा, कल्याण की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

आश्रम और पुरुषार्थ

सृष्टि के विभिन्न प्राणियों में मनुष्य की श्रेष्ठता निर्विवाद है। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है जिसमें बुद्धि की प्रधानता है। अतः उसने सफल, विकसित और प्रशस्त जीवन व्यतीत करने के विषय में भी विचार किया। प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार उसी मनुष्य का जीवन सफल कहा जा सकता है जिसने मानव जीवन के उद्देश्यों को प्राप्त कर लिया हो। इन उद्देश्यों को पुरुषार्थ (मनुष्य के जीवन अथवा जन्म लेने का प्रयोजन) की संज्ञा दी गई है। पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष। इन चारों को सामूहिक रूप से चतुर्वर्ग कहा जाता है। मोक्ष को अपवर्ग मानकर यदि छोड़ दिया जाय तो केवल तीन पुरुषार्थ शेष रह जायेंगे, जिनको त्रिवग कहते हैं।[3]

१. पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते।
   अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम्॥ वही, शांति, १२, १८.

२. तेषु सर्वेषु यथोपदेशमव्यग्रो वर्तमानः क्षेमं गच्छति।
   आपस्तंब २, ९, २१, २.
   न तु तज्ज्येष्ठ्यमाश्रमाणाम्। वही, २, ९, २४, १४.
   याज्ञवल्क्य, ३, ५६ पर मिताक्षरा टीका भी देखिये।

३. त्रिवर्गो धर्मकामार्थः चतुर्वर्गः समोक्षकैः।
   मुद्राराक्षस, ५, २२।
   दीक्षितारः हिन्दू ऐड्मिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन्स, पृ. ३७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

धर्म शब्द के अनेक अर्थ हैं, जो संदर्भके अनुसार बदलते रहते हैं, जैसे न्याय, विशिष्ट कर्तव्य, नैतिक गुण और सदाचार इत्यादि। त्रिवर्ग के सन्दर्भ में इसका तात्पर्य नैतिक गुणों का व्यवहार करते हुए अपने कर्त्तव्यों को यथोचित रूप से करने से है। वन पर्व के अनुसार वही धर्म है जिससे दूसरों की सहायता भी हो सके। जिससे दूसरों को कष्ट पहुँचे वह धर्म, कुधर्म है। धर्म के इस स्वरूप को जानने वाला व्यक्ति उस अन्धे के समान है, जिसे सूर्य का प्रकाश नहीं दिखाई देता।[1]

अर्थ का शाब्दिक अर्थ धन से है, लेकिन यह इसका संकुचित अर्थ है।[2] व्यापक अर्थ में इसका तात्पर्य सांसारिक उपलब्धियों से है। अर्थ की सार्थकता दान देने के कारण संभव है। धन का उचित उपयोग न करने वाले की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है जो जंगल में गायों की रक्षा के उद्देश्य से नियुक्त किया गया हो (अर्थात् ऐसे धनी व्यक्ति को धन का रक्षक मात्र समझना चाहिए)।

काम के अन्तर्गत सब प्रकार की इच्छाओं का समावेश किया[3] जाता

---

१. कर्षणार्थो हि यो धर्मो मित्राणामात्मनस्तथा।
व्यसनं नाम तद् राजन् न धर्मः स कुधर्म तत्॥
यस्य धर्मो हि धर्मार्थे क्लेशभाङ् न स पण्डितः।
न स धर्मस्य वेदार्थं सूर्यास्यान्धः प्रभामिव॥
महा, वन, ३३, २१, २३.

२. श्री अरविन्द के अनुसार अर्थ का तात्पर्य 'vital interests' से है। वर्मा : स्टडीज़ इन हिन्दू पोलिटिकल थॉट एण्ड इट्स मेटाफ़िसिज़िकल फाउन्डेशन, पृ. ५३।

३. यस्य चात्मार्थमेवार्थः स च नार्थस्य कोविदः।
रक्षेत भृतकोऽरण्ये यथा गास्तद्गेव सः॥
महा, वन, ३३, २४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। धन अथवा इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति को भी काम कहा जाता है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने व्यक्तित्व के विकास के लिए इच्छाओं की पूर्ति को भी उचित महत्व दिया है।

मोक्ष का अर्थ है, मुक्ति-लाभ की इच्छा। मोक्ष या मुक्ति पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु के बन्धन से छूट निकलने को कहते हैं। यह जीवन का चरम लक्ष्य है।

आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य पुरुषार्थों की प्राप्ति है। अत: आश्रमों और पुरुषार्थों में घनिष्ट सम्बन्ध है। धर्म का तात्पर्य हमने अति संक्षेप में देखा है और इसी अध्याय में आगे ब्रह्मचर्याश्रम के लिए विहित आचारावली का उल्लेख किया गया है। इससे स्पष्ट हो जायगा कि ब्रह्मचारी को (ब्रह्मचर्याश्रम में) नैतिक गुणों का पालन करने, चारित्रिक और व्यक्तित्व सम्बन्धी दोषों से दूर रहने तथा संयमित जीवन व्यतीत करने की शिक्षा दी जाती थी। उस समय अर्थ-संचय या वासनाओं में लिप्त रहना सर्वथा वर्जित था जिनका सम्बन्ध क्रमश: अर्थ और काम से हैं। इस प्रकार जीवन के पहले भाग, ब्रह्मचर्याश्रम, में धर्म पुरुषार्थ की प्राप्ति सम्भव थी।

विद्यार्थी के ज्ञान से सन्तुष्ट हो जाने पर गुरु ब्रह्मचारी को घर लौटने की अनुमति देता था। ऐसा व्यक्ति स्नातक कहलाता और विवाह के योग्य समझा जाता था। विवाह संस्कार से गृहस्थाश्रम, जीवन की दूसरी अवस्था का प्रारम्भ होता था। गृहस्थाश्रमी के प्रमुख कर्तव्य थे देवताओं की पूजा करना, न्यायपूर्वक जीविकोपार्जन करते हुए अन्य आश्रमों की सहायता करना, अपनी पत्नी से संतानोत्पत्ति करना और इस प्रकार वंश परम्परा को बनाये रखना। इससे स्पष्ट है कि इस आश्रम में धर्म का पालन करते हुए अर्थ और काम की भी उपलब्धि संभव थी। गृहस्थाश्रम में ही त्रिऋणों (ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण) को चुकाना संभव था। इन को अदा करने

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के बाद ही मन को मोक्ष में लगाना चाहिए। अन्यथा करने वाला निम्नगति को प्राप्त करता है।[1] अतः गृहस्थाश्रम का विशेष महत्व बताया गया है।

वृद्धावस्था में, पुत्रों के समर्थ होने पर और गृहस्थी का उत्तर-दायित्व संभालने के योग्य होने पर गृहस्थ को घर छोड़कर वन में प्रस्थान करने की सलाह दी गयी है। वहाँ जाकर अति सीमित आवश्यकताओं वाला जीवन व्यतीत किया जाता था। वानप्रस्थ और सन्यास आश्रमों में पुनः अर्थ और काम का परित्याग करना चाहिए और धम को आधार मानते हुए मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। त्रिवर्ग और आश्रमों का निकट संबन्ध मानते हुए कहा गया है कि चारों आश्रम सीढ़ी के चार पदों से तुलनीय हैं और इन पर क्रमशः चढ़ते हुए मन को मोक्ष में लगाना चाहिए।[2]

इस संबन्ध में पक्षीरूपधारी इन्द्र और बाल ब्रह्मचारियों के विषय में उल्लेख किया जा सकता है। एक बार कुछ बालक, छोटी अवस्था से ही अपना घर छोड़कर वानप्रस्थी का जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से जंगल में गये। वहाँ पर उन्होंने एक पक्षी को देखा, जिसने इन्हें मूर्ख बताया और वापस घर लौटने को कहा। पक्षी ने बालकों से कहा कि उन्हें घर लौटकर आश्रमों का यथोचित क्रम से पालन करना चाहिए। गृहस्थाश्रम के लिए विहित यज्ञादि धार्मिक कृत्यों को करने के बाद ही जंगल में जीवन व्यतीत करना उनके लिए श्रेयस्कर है।

---

१. ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
मनु, ६, ३५.

२. चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता।
एतामारुह्य निःश्रेणीं ब्रह्मलोके महीयते॥
महा, शांति २४२, १५। वही, २०, ४ भी देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पक्षी की बात मान कर बालक घर वापस आ गये। इस कथा से आश्रमों के क्रम का उल्लघन न करने के औचित्य के साथ-साथ यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषार्थों से सम्बन्धित होने के कारण ही आश्रमों को महत्वपूर्ण समझा जाता था।

आश्रम-व्यवस्था—विभिन्न कालों में

विभिन्न कालों में आश्रम-व्यवस्था के स्वरूप में न्यूनाधिक परिवर्तन हुआ। प्रारम्भ में आश्रमों के अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष उल्लेख हैं, लेकिन क्रमशः इनके स्वरूप में स्पष्टता और इनकी महत्ता में वृद्धि होने पर, इनके विषय में अधिक गम्भीर विचार मिलते हैं। पिछले अध्याय में विभिन्न कालों में वर्ण-व्यवस्था का अध्ययन करते समय उन कालों से सम्बन्धित सूचना के आधारभूत प्रमाणों की तिथि के विषय में अति संक्षेप में बताया जा चुका है।[1]

पूर्व वैदिक काल में आश्रम

ऋग्वेद में आश्रम शब्द अनुपस्थित है यद्यपि जीवन की उन कुछ विशेष अवस्थाओं के उल्लेख व वर्णन हैं जो पश्चात्कालीन आश्रम-व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं। दसवें मंडल में एक कर्तव्यनिष्ठ ब्रह्मचारी[2] का उल्लेख है, जिसका तात्पर्य, ग्रिफ़िथ के अनुसार धार्मिक विद्यार्थी से है।[3] यहाँ पर ब्रह्मचारी शब्द का तात्पर्य जीवन के पहले आश्रम से ही है, ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। पूर्व-वैदिक काल में शिक्षा का अस्तित्व निर्विवाद है। अध्ययन लाभदायक

---

१. पृ. १६ और आगे।

२. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः
ऋ. १०, १०९, ५.

३. ग्रिफ़िथ : हिम्स ऑफ़ दी ऋग्वेद, भाग २, पृ. ५५२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

माना गया है। पवमान सूक्त को पढ़ने वालों को देवता शरण देते थे।[१] विद्यार्थी गुरु द्वारा सिखाये गये पाठ का अनुसरण करते थे।[२]

गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाह संस्कार से होता है। ऋग्वेद से विवाह-मर्यादा की सूचना मिलती है। सूर्या के विवाह का वर्णन करने वाला सूक्त इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[३] नवविवाहिता के लिए यह शुभकामना की जाती थी कि वह नये परिवार में सबको अपने व्यवहार से प्रभावित कर, सुखी पारिवारिक जीवन व्यतीत करे।[४]

गृहपति शब्द ऋग्वेद में अनेक बार आता है[५] और पारिवारिक जीवन के विषय में निश्चित सूचना मिलती है। दसवें मंडल में एक जुआड़ी का वर्णन है जिसकी पत्नी और उसकी माँ उससे दुःखी थीं, और जिसे आराम देने वाला घर में कोई भी नहीं था।[६] केवल पासे के कारण ही उसकी अनुरक्त पत्नी भी वैसी नहीं रही।[७] उसकी पत्नी निराश

१. ऋ. ९, ६७, ३१-२.
२. वही, ७, १०३, ५.
३. वही, १०, सूक्त ८५.
४. सम्राज्ञी श्वसुरेभव सम्राज्ञी श्वाश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु
वही, १०, ८५, ४६। वही, १०, ८५, २६ भी देखिये।
५. वही, १, १५, १२; ४, ५३, २; ७, १, १; ७, १५, २; १०, ११८, ६.
अग्नि को गृहपति कहा गया है—
वही, ४, ८, ४; ५, ४, २; ६, ४८, ८; ७, १६, ५; १०, १२२, १.
६. वही, १०, ३४, ३.
७. अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्।
वही, १०, ३४, २.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और अप्रसन्न थी, तथा माँ अपने पुत्र को कर्ज में डूबा हुआ इधर-उधर घूमता भटकता देखा करती थी।[१] यद्यपि यह एक कर्त्तव्यच्युत व्यक्ति का वर्णन है, लेकिन इससे संयुक्त परिवार के अस्तित्व के विषय में शंका नहीं रह जाती। एक ही घर में पुत्रों और पौत्रों के साथ-साथ रहने का उल्लेख भी यही बताता हैं।[२] इसी सूक्त में आदर्श परिवार का उल्लेख भी है।[३] शास्त्रकारों ने सन्तानोत्पत्ति करना गृहस्थ का प्रमुख कर्त्तव्य माना है। ऋग्वेद से भी ऐसी सूचना मिलती है। नव-विवाहिता कन्या सुपुत्रों की माता बने, ऐसा आशीर्वाद कन्या का पिता विदाई के अवसर पर देता था।[४] प्रजापति से सन्तान[५] और इन्द्र से दस पुत्रों की माँ बनाने के लिए प्रार्थना की गई है।[६]

ऋग्वेद में यति[७] और मुनि[८] शब्दों के प्रयोग मिलते हैं। इन्द्र

---

१. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानो ऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति।
वही, १०, ३४, १०.

२. वही, १०, ८५, ४२.

३. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापाऽन्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
वही, १०, ३४, ११; १०, ८५, ४६ भी देखिये।

४. वही, १०, ८५, २५.

५. आ नः प्रजां जनयतु प्रजापति राजरसाय समनक्त्वर्यमा।
वही, १०, ८५, ४३.

६ इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥
वही, १०, ८५, ४५.

७. वही, ८, ३, ९; ८, ६, १८; १०, १२, ७.

८. वही, ७, ५६, ८; ८, १७, १४; १०, १३६, २, ४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुनियों के सखा हैं।[१] मुनि पीला वस्त्र पहनने वाले बताये गये हैं।[२] प्रत्येक देवता के साथ उनका सम्बन्ध रहता है।[३] इन शब्दों का अर्थ इस प्रसंग में अनिश्चित है। काणे के अनुसार मुनि और यति शब्दों का तात्पर्य क्रमशः ऐसे आर्यों और अनार्यों से है, जो सादा और संयमित जीवन व्यतीत करते रहे हों और ध्यानमग्न रहते हों।[४] इन प्रसंगों को आश्रम व्यवस्था की प्रारम्भिक अवस्था मानना संदेहास्पद है।

उत्तर वैदिक काल में आश्रम

सामवेद और यजुर्वेद से शिक्षा के अस्तित्व के विषय में यत्किंचित् सूचना मिलती है। ब्रह्मचर्याश्रम से इसका सम्बन्ध संदिग्ध है। अतिथि-सत्कार[५] और गृहपति[६] के उल्लेखों को गृहस्थाश्रम का संकेत माना जा सकता है। वानप्रस्थ और सन्यासाश्रमों से तुलनीय प्रसंग इनमें अनुपस्थित हैं।[७]

---

१. इन्द्रो मुनीनां सखा। वही, ८, १७, १४.

२. वही, १०, १३६, २.

३. वही, १०, १३६, ४.

4. "that even in the times of the Rigveda, persons, who led a life of poverty, contemplation and mortification, were known and were honoured and called munis, while persons, corresponding to them among non-vedic people were probably called yatis,"
काणे : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. ४१९-२०.

५ मा नो हृणीथा अतिथिं वसुरग्निः पुरुप्रशस्त एषः यः सुहोता स्वध्वरः ॥
साम, १, १, १२, ४.

६. वही, १, २, १, ७.

७ सरल श्रीवास्तव : पूर्वोल्लिखित कृति, पृ. २३५,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों के अनेक उल्लेखों के साथ-साथ ब्रह्मचारियों और गृहस्थों के कर्त्तव्यों की चर्चा मिलती है लेकिन यहाँ भी वानप्रस्थ एवं सन्यासाश्रमों का चित्र स्पष्ट नहीं है।

अथर्ववेद मे ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों के उल्लेख है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य वहाँ इन्द्रिय संयम और पवित्र ज्ञान से है। मृगचर्मधारी ब्रह्मचारी प्रातः सायं अग्नि में रक्खी समिधा और उससे उत्पन्न हुए तेज से तेजस्वी. होते थे। भिक्षादि नियमों का पालन करना उनके लिए उचित माना जाता था।[1] ब्रह्मचर्य का पालन करना उनका कर्त्तव्य था क्योंकि गुरु उसी से प्रसन्न रहते थे जो ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता था।[2] कन्याओं के लिए भी ब्रह्मचर्य विहित था, ऐसा अनुमान उस प्रसंग से लगाया जा सकता है, जहाँ कहा गया है कि ब्रह्मचर्य के कारण कन्या को श्रेष्ठ पति की प्राप्ति होती है।[3]

गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ विवाह से होता था। विवाह के समय दम्पति के लिए की गयी इस शुभकामना से गृहस्थ के जीवन का यत्किंचित् ज्ञान मिलता है—"इस पति के विवाह के निमित्त जिस स्त्री को माता पिता पास लाए हैं, उसे यह अग्निदेव दधि, मधु, घृत से बढ़ावें। यह पति प्रसिद्ध हवि द्वारा प्रजा और पशु आदि से सम्पन्न हो। पति का घर दुग्धादि से सम्पन्न रहे। इसका राज्य वृद्धि पर रहे। बहुत से धन से यह परिपूर्ण रहे। त्वष्टा ने इस स्त्री से उत्पन्न किया

---

१. ब्रह्मचार्येति समिधा समृद्धिः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रु.।
अथर्व, ११, ५, ६.

२. आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते।
वही, ११, ५, १७.

३. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानो विन्दते पतिम्।
वही, ११, ५, १८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है। हे वर ! तुझे इस स्त्री के पति रूप में भी त्वष्टा[1] ने ही बनाया है। अतः हे पति-पत्नी त्वष्टा तुम्हें सहस्रायु करें"।[2]

विवाह का उद्देश्य संतान-प्राप्ति करना भी था। पति पत्नी से कहता है, 'हे पत्नी ! मैं पुरुष हूँ और तुम स्त्री हो। मैं साम हूँ, तुम ऋक् हो। मैं आकाश हूँ और तुम पृथ्वी हो। हम यहाँ साथ-साथ रहते हुए संतान उत्पन्न करें।'[3]

अतिथि सत्कार गृहस्थ का एक प्रमुख कर्त्तव्य था। अतिथि को प्रसन्न करने से स्वर्ग की प्राप्ति संभव मानी गयी है। ऐसा करने वाले को अपने पापों से मुक्ति भी मिल सकती है और ऐसा न करने वाला पाप-भागी होता है। गृहस्थ को चाहिए कि वह अतिथि को खिलाने के बाद ही स्वयं खाये, अन्यथा उसके सब पुण्य अवश्यमेव समाप्त हो जाते हैं।[4]

ब्राह्मणों और संहिताओं में आश्रम शब्द तो नहीं मिलता लेकिन जीवन की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन वहाँ भी है। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थल पर चारों आश्रमों का अस्पष्ट उल्लेख है—"मैल व मृग-चर्म

---

१. त्वष्टा गर्भ को विकसित करने वाले और पति-पत्नी को भी एक दूसरे के लिए बनाने वाले माने गये हैं।

२. तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः। जायां यामस्मा आवा क्षस्तां रसेनाभि वर्धताम्। अभिवर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ। त्वष्टा जायामजनयत् त्वष्टास्यै त्वां पतिम्। त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम्॥
वही, ६, ७८.

३. अमोहमस्मि सा त्वं सामाहमस्म्यृक्त्वं द्यौरहं पृथिवी त्वम्। ताविह सं भवाव प्रजामा जनयावहै
वही, १४, २, ७१.

४, वही, ९, ६, २३—३७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से क्या प्रयोजन ? दाढ़ी बढ़ाने या तप करने से भी क्या लाभ ? ब्राह्मणो ! पुत्र की कामना करो । वही प्रशंसा के योग्य लोक है ।"[१] यहाँ ब्रह्मचारी की ओर संकेत करने वाला शब्द मृगचर्म है, मल[२] और पुत्र की इच्छा का सम्बन्ध गृहस्थ से जोड़ा जा सकता है । वान-प्रस्थियों के लिए विहित धर्म के अनुसार उन्हें अपनी दाढ़ी बढ़ानी चाहिए ।[३] अतः लम्बी दाढ़ी का तात्पर्य वानप्रस्थ आश्रम से मानना उचित होगा । तप करना सन्यासियों के लिये विशेषतया विहित था अतः इसका संबंध सन्यासाश्रम से जोड़ा गया है ।[४]

उपनिषदों में आश्रम

छान्दोग्य उपनिषद् में धर्म के तीन स्कंध हैं । इनमें यज्ञ, अध्ययन और दान को पहला स्कन्ध माना गया है । दूसरा स्कंध है तप तथा तीसरा स्कंध है आचार्य के घर में रहने वाला ब्रह्मचारी ।[५] यहाँ प्रथम, द्वितीय व तृतीय स्कंधों से गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचर्य आश्रमों को

---

१. किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः ।
पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं स वै लोको वदावदः ।
ऐतरेय, ३३, ११.
काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ० ४२० पर उद्धृत ।

2. "Mala probably refers to sexual intercourse."
काणे, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ. ४२०.

३. उदाहरणार्थ देखिये गौतम, ३, ३३; महा, शांति, १९२, १; मनु, ६, ६.

४. वही, ६, ७५.

५. त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्य कुलवासी तृतीयो…।
छान्दोग्य, २, २३, १.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इंगित किया गया है। संभवतः तप का तात्पर्य वानप्रस्थ और सन्यास, इन दोनों से है क्योंकि तप (ज्ञान, यम और नियम) का ही विधान तो चौथे आश्रम वालों के लिए भी किया गया था।[1]

आश्रम उपनिषद् में सविस्तार चारों आश्रमों और प्रत्येक के चार चार प्रकारों के विषय में सूचना मिलती है। ब्रह्मचारी के चार भेद हैं गायत्र, ब्राह्म, प्राजापात्य और बृहद्। वार्ताकवृत्ति, शालीनवृत्ति, यायावर, और घोरसंन्यासिक, ये चार गृहस्थाश्रमियों के प्रकार; वैखानस, औदुम्बर, वालखिल्य और फेनप, ये चार वानप्रस्थियों के प्रकार तथा कुटीचर, बहूदक, हंस और परमहंस, ये चार परिव्राजकों के प्रकार बताये गये हैं।[2]

ब्रह्मचर्य आश्रम का प्रारम्भ संभवतः १२ वर्ष की अवस्था से होता था। आरुणि ने ब्रह्मबंधु[3] होने के लिए, ब्रह्मचर्य को आवश्यक माना और अपने पुत्र श्वेतकेतु का उपनयन बारह वर्ष की अवस्था में करवाया। चौबीस वर्ष की अवस्था में श्वेतकेतु ने सब वेदों का अध्ययन कर लिया था[4] असुरों के राजा विरोचन और देवताओं के राजा इन्द्र ने आत्मा के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए, ३२ वर्षों तक प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य–वास किया।[5]

---

१. परिव्राजकस्यापि ज्ञानं यमानियमाश्च तप एवेति 'तप एव द्वितीयः' इत्यत्र तपःशब्देन परिव्राट्तापसौ गृहीतौ।
उपर्युक्त पर शांकर भाष्य।
२. आश्रमोपनिषद्।
३. अर्थात् वह जिसके बंधु ब्राह्मण हों, लेकिन वह स्वयं ब्राह्मणवत् आचरण न करता हो—ब्रह्मबन्धुरिव ब्राह्मणान् बन्धून् व्यपदिशति न स्वयं ब्राह्मणवृत्त इति।
४ वही, १, ६, १ पर शांकर भाष्य। वही, १, ६, १–२.
५. वही, ८, ७, ३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आचार्य और शिष्य का सम्बन्ध स्नेहपूर्ण होता था। वे परस्पर सहयोग की कामना करते थे। तैत्तिरीय उपनिषद् में वे दोनों प्रार्थना करते हैं, "हम दोनों साथ-साथ (एक दूसरे की) रक्षा करें। साथ ही भोजन करें। विद्यादि कार्यों को साथ-साथ करें। हम दोनों साथ ही साथ अर्थ-ज्ञान के लिए योग्य हों और कभी भी एक दूसरे का द्वेष न करें।"[१]

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति होने पर गुरु की अनुमति के बिना गुरुकुल से घर वापस लौटने की अनुमति नहीं मिलती थी। सत्यकाम जाबाल के यहाँ ब्रह्मचर्य ग्रहण करके रहता था। वह बारह वर्षों तक आचार्य के पास रहा। आचार्य ने अन्य सभी को तो घर जाने की अनुमति दी, किन्तु सत्यकाम को अनुमति नहीं दी।[२] ब्रह्मचर्य आश्रम की समाप्ति समावर्तन संस्कार से होती थी।[३] गृहस्थाश्रम में सन्तानोत्पत्ति करने की अपेक्षा आत्मा से सम्बन्धित ज्ञान को श्रेष्ठतर बताया गया है। लेकिन अन्यत्र पत्नी को सन्तान उत्पन्न करने और यज्ञादि करने के कारण आवश्यक समझा गया है।[४]

आगत अतिथियों का यथोचित सत्कार करना भी गृहस्थों का कर्त्तव्य माना जाता था।[५] सुफल प्राप्ति के लिए नचिकेता के पिता वाजश्रवस ने गायों का दान किया। नचिकेता ने यह सब देख पिता

---

१. सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै। तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
तैत्तिरीयोपनिषद्, २, १.
यही प्रार्थना वही, ३, १ में भी है।

२. छान्दोग्य; ४, १०, १.

३. वही.

४. बृहदारण्यकोपनिषद्, १, ४, १७.

५. कठोपनिषद्, १, १, ९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

से पूछा 'मुझे किसे दान दोगे ?" बारम्बार यही सवाल सुनने पर चिड़-चिड़ा कर पिता ने कहा, "तुम्हें यम को दे दिया।" नचिकेता यम के घर गये. लेकिन वे बाहर गये थे अतः उसने तीन रात वहीं रह कर, उनकी प्रतीक्षा की। लौटने पर नचिकेता का स्वागत किया और यम ने उनके तीन रात तक प्रतीक्षा करने के कारण उनसे तीन वर माँगने को कहा[1] क्योंकि जिस अल्पबुद्धि के घर में ब्राह्मण अतिथि भूखा-प्यासा रहे, वह उस गृहस्थ के सब पुण्य, आशाएँ और सुकृत्य ले जाता है, अर्थात् अतिथि की अवहेलना का परिणाम बुरा होता है।[2]

उपनिषदों में चौथे आश्रमी के लिये परिव्राजक शब्द का प्रयोग मिलता है कहीं-कहीं आश्रमों के क्रम से संबंधित निर्देश भी है। आश्रम-समुच्चय और आश्रम-विकल्प[3] के विषय में स्पष्ट और निश्चित उल्लेख हैं, उदाहरण के लिये जाबाल उपनिषद्[4] और नारदपरिव्राजक उपनिषद् जिनके अनुसार ब्रह्मचारी के बाद गृहस्थ, गृहस्थ के बाद वनी (वानप्रस्थी) और वनी के बाद परिव्राजक होना चाहिए, लेकिन ब्रह्मचर्याश्रम के बाद या गृहस्थाश्रम के बाद परिव्राजक होने की संभावना भी बताई गयी है।[5]

---

१ वही, १, १-९

२. आशा प्रतीक्षे संङ्ग सुनृताञ् चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्व्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥
वही, १, ८.

३. देखिये पीछे, पृ० ९२ और आगे।

४. ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेद् गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा।
स्क्रेडर: दी माइनर उपनिषद्स, पृ. १४९.

५. द्वादशवर्षशुश्रूषापूर्वकं ब्रह्मचर्यं, पञ्चविंशतिवत्सरं गार्हपत्यं, पञ्चविंशतिवत्सरं वानप्रस्थाश्रमं तद्विधिवत्क्रमान्निर्वर्त्य...

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बौद्ध साहित्य में आश्रम

बौद्ध साहित्य में भी जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की चर्चा है। शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से बालक १६ वर्ष की अवस्था में तक्षशिला जाते थे, ऐसी सूचना अनेक जातकों से मिलती है।[1] जातकों से ही यह भी पता चलता है कि ब्रह्मदत्त और बोधिसत्त्व १६ वर्ष की अवस्था तक वेदाध्ययन समाप्त भी कर चुके थे।[2] अतः स्वाभाविक निष्कर्ष यह है कि ब्राह्मण साहित्य की तरह बौद्ध साहित्य में भी कोई एक ही अवस्था, निश्चित नहीं की गयी है।

महावग्ग में गुरु के लिये उपज्झाय (उपाध्याय) और शिष्य के लिये सिद्धविहारिक शब्द मिलते हैं। एक बार कुछ भिक्षुओं ने गौतम बुद्ध को बताया कि कुछ भिक्षु अनुचित प्रकार से वस्त्र धारण करते और भिक्षा मांगते हैं तथा खाते समय बहुत शोर करते हैं और उनके इस प्रकार के व्यवहार से जनता असंतुष्ट है। इस पर बुद्ध भगवान् ने भिक्षुओं के इस व्यवहार को अशोभनीय समझा और उन्हें उपाज्झाय के पास जाने की सलाह देते हुए बताया कि उपाज्झाय तथा सिद्ध-विहारिक का आपस में क्या संबंध और कैसा व्यवहार होना चाहिए। उन्होंने कहा कि शिष्य गुरू को पिता समझे और पिता उसे पुत्र।[3]

सन्यासी परमहंसाश्रमेणास्खलितस्वस्वरूपध्यानेन देहत्यागं करोति स मुक्तो भवति स मुक्तो भवतीत्युपनिषत्।
वही, नारदपरिव्राजकोपनिषद्, पृ० १३१-२.

१. राजोवाद जातक, संख्या, १५१; असदिस जातक, संख्या १८१; तिलमुट्ठी जातक, संख्या २५२; दरीमुख जातक, संख्या ३७८.
२. लाभगरह जातक, संख्या २८७.
३. उपज्झायो, भिक्खवे, सद्धिविहारिकम्हि पुत्रचित्तं उपट्ठपेस्सति, सिद्धिविहारिको उपज्झायम्हि पितुचित्तं उपट्ठपेस्सति। महावग्ग (मूल), १, १८, ६५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

दोनों एक दूसरे पर विश्वास करें, परस्पर सम्मान करें और इस प्रकार प्रगति करें।[1] गुरु का सम्मान करना शिष्य का प्रमुख धर्म है। अतः शारीरिक पवित्रता के (उदाहरणार्थ दाँत साफ़ या स्नान करते) समय उनकी सेवा करे। जब उपाध्याय कुछ बोल रहे हों, तब बीच में न बोले। उनका पैर धोये। जिस विहार में वे रहते हों, उसकी स्वच्छता का ध्यान रक्खे। उनसे पूछे बिना न तो अपना भिक्षा-पात्र किसी को दे और न किसी से ले। उपाध्याय के अस्वस्थ होने पर मन लगा कर उनकी सेवा करे।[2]

तिलमुट्ठि जातक से गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में सूचना मिलती है। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का पुत्र १६ वर्ष की अवस्था में तक्षशिला गया। वहाँ पहुँच. उसने आचार्य को सादर प्रणाम किया और बताया कि वह उनसे शिल्प सीखना चाहता था। आचार्य ने उसे शिष्यरूप में स्वीकार किया। एक दिन राजकुमार आचार्य के साथ नहाने गया। वहाँ एक बुढ़िया साफ़ किये हुए तिलों की रखवाली करने के लिए बैठी थी। राजकुमार ने (बिना कुछ पूछे ही) एक मुट्ठी तिल उठा कर खा लिया। अगली बार फिर वैसा ही किया और जब तीसरे दिन भी ऐसा ही आपत्तिजनक व्यवहार किया तो वृद्धा ने आचार्य से सब बात कह दी। आचार्य ने कुमार को दण्डित करने का निश्चय किया और दो लड़कों से राजकुमार को पकड़वा कर बाँस की छड़ी लेकर, तीन बार उसकी पीठ पर प्रहार किया। राज-कुमार ने उस समय यह निश्चय किया कि वह गुरु के इस व्यवहार का बदला, मौका पाने पर, अवश्य लेगा। राजा बनने पर, आचार्य से प्रतिशोध लेने की इच्छा से, उसने उन्हें बुलवाया और तब उन्हें सब

---

१. वही.

२. वही, १, १८। सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, भाग १३ में १, २५ देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कुछ बताया। यह सुन आचार्य ने कहा, "जो आचार्य अनुचित कामों को करने वाले शिष्य को, अनुशासन के उद्देश्य से दण्ड देता है, उसे वैर नहीं मानना चाहिए।"[१] वहाँ उपस्थित अमात्यों ने भी गुरु के वचन को ठीक बताया। तब राजा को आचार्य के गुणों का ध्यान आया और उन्होंने अपना समस्त ऐश्वर्य उन्हें देना चाहा, लेकिन आचार्य ने उस ऐश्वर्य को अनावश्यक मानते हुए उसे अस्वीकार किया।[२]

इस प्रकार इस कथा में बताया गया है कि गुरु की किसी बात का बुरा मानना या उनसे बदला लेने की भावना रखना सर्वथा अनुचित है। गुरु में पूर्ण विश्वास रखना ही छात्र के लिए विहित माना गया है।

संयुत्त निकाय से ब्रह्मचर्य की कल्पना के विषय में सूचना मिलती है। अनिच्च सुत्त में भगवान् बुद्ध ने कहा, "वैराग्य करने से राग-रहित हो जाता है। राग-रहित होने से विमुक्त हो जाता है। विमुक्त हो जाने से 'विमुक्त हो गया' ऐसा ज्ञान होता है। जाति क्षीण हुई, ब्रह्मचर्य पूरा हो गया, जो करना था सो कर लिया, पुनः जन्म नहीं होगा–जान लेता है।"[३]

बौद्ध साहित्य में पारिवारिक जीवन का वर्णन कई दृष्टिकोणों से किया गया है। ऐसा सोचना निराधार नहीं है कि कभी-कभी गृहस्थाश्रम

---

१. अरियो अनरियं कुब्बानं यो दण्डेन निसेधति।
सासनत्थं न तं वेरं इति नं पण्डिता विदु॥
तिलमुट्ठि जातक।

२. वही।

३. समुत्तनकाय, अनिच्च सुत्त, ३४, १, १, १.
आदित्तसुत्त, ३४, १, ३, ६ मिगजाल सुत्त ३४, २, २, २ भी देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

को बाधाओं और विषय-वासनाओं से युक्त माना जाता था। स्वयं गौतम बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण[१] भी इस संभावना का पोषक है। एक जैन कृति, उत्तराध्ययन सूत्र में, इसके विपरीत, संतानहीन व्यक्ति को उसी प्रकार निरर्थक बताया है, जैसे पंख के बिना पक्षी, युद्ध में सैनिकों के बिना राजा और बिना सामान के व्यापारी।[२]

वानप्रस्थाश्रम से तुलनीय सूचना दरीमुख जातक से मिलती है। इसके अनुसार राजगृह के राजा ब्रह्मदत्त ने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य का कार्य सौंपा और स्वयं काम-भोगों का परित्याग कर, हिमालय की ओर प्रस्थान किया।[३]

सन्यासी को अपनी इच्छाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए। अपने स्वाद की तृप्ति के लिए कोई विशेष खाद्य बनाना या खाना सर्वथा वर्जित था।[४]

---

१. गौतम बुद्ध ने शाक्यों के राजा शुद्धोदन के पुत्र के रूप में जन्म लिया था। उनका प्रारम्भिक नाम था सिद्धार्थ। ज्योतिषियों ने बालक के विषय में भविष्यवाणी की कि या तो वह चक्रवर्ती राजा बनेगा या संसार से विरक्त होगा। अतः राजा उन्हें सर्वदा आमोद-प्रमोद के वातावरण में रखते थे, जिससे कि संसार से विमुख हो जाने की संभावना न रह जाय। एक बार नगर-भ्रमण करते समय उन्होंने एक वृद्ध, एक योगी, एक रोगी और एक शव को देखा और इन दृश्यों को देख उनका हृदय अत्यधिक विचलित और पीड़ित हो उठा। उन्हें ऐसा लगा कि दुःख ही वास्तविकता है और सांसारिक सुख अचिरस्थायी तथा असत्य। उन्हें संसार से विरक्ति हो गई और उन्होंने सर्वदा के लिए गृहत्याग किया। उनके जीवन की इस घटना को महाभिनिष्क्रमण कहा जाता है।

२. सरल श्रीवास्तव, पूर्वोल्लिखित शोध प्रबन्ध, पृ. २६४.

३. दरीमुख जातक, संख्या ३७८.

४. दीघ निकाय, ८, १, १४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूत्रों में आश्रम

सूत्रों में चारों आश्रमों के स्पष्ट और विस्तृत वर्णन मिलते हैं। आपस्तम्ब ने सन्यासी के लिए मुनि शब्द का प्रयोग करते हुए ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ का[1] और गौतम ने ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु और वैखानस का उल्लेख किया है।[2] टीकाकार के अनुसार भिक्षु का तात्पर्य वानप्रस्थी से और वैखानस का तात्पर्य सन्यासी से है। इस प्रकार गौतम धर्मसूत्र में आश्रमों का परम्परागत क्रम नहीं मिलता।[3]

वसिष्ठ[4] और बौधायन[5] ने भी चारों आश्रमों का उल्लेख किया है। वहाँ सन्यासाश्रम के लिए परिव्राजक शब्द मिलता है। वेदाध्ययन करना, वाणी पर संयम रखना, भिक्षा माँगना, गुरु के आधीन रहना, बाल बढ़ाना, गुरु के पीछे-पीछे चलना, उनका आदर करना और जो कुछ भी मिला हो, गुरु को दे देना और बाद में उनकी आज्ञा से उसे

१, आपस्तम्ब, २, १, २१, १.

२. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुर्वैखानसः।
गौतम १, ३, २.

३. भिक्षुः सन्यासी, वैखानसो वानप्रस्थः। वैखानसप्रोक्तेन मार्गेण वर्तत इति। तेन स आश्रमः प्राधान्येन दर्शितः। शास्त्रान्तरेषु वैखानसस्तृतीयो भिक्षुश्चतुर्थ आश्रमः। इह तु क्रमभेदः प्रागुक्तास्त्रय आश्रमिण इत्यत्र वैखानसवर्जनार्थः।
वही, १, ३, २ पर हरदत्त की टीका।

४. चत्वार आश्रमाः। ब्रह्मचारि-गृहस्थ-वानप्रस्थ-परिव्राजकाः।
वसिष्ठ, ७, १-२.

५. ब्रह्मचारी गृहस्थो वानप्रस्थः परिव्राजक इति।
बौधायन, २, ११, १४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ग्रहण करना, ये ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य थे।[1] गुरु की अनुमति लेकर ब्रह्मचारी को स्नानोपरान्त[2] विवाह करना चाहिए।[3] अतिथि-सत्कार को इसका प्रमुख कर्तव्य[4] बताते हुए कहा गया है कि "जिस गृहस्थ के घर में आगत ब्राह्मण को भोजन नहीं मिलता है, उसके सब पुण्यों को वह ब्राह्मण ले जाता है"।[5]

स्वाध्याय, यज्ञ और सन्तानोत्पत्ति करना उसके अन्य कर्तव्य थे।[6]

---

१. तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान्वाविशीर्णब्रह्मचर्यो यामिच्छेत्तमावसेत् ।। ३ ।। ब्रह्मचार्याचार्यं परिचरेदा शरीरविमोक्षणात् ।। ४ ।। संयतवाक् ।।७।। भैक्ष्यमाचरेत ।। ९ ।। गुर्वधीनः ।। १० ।। जटिलः शिखाजटो वा ।।११।। गुरुं गच्छन्तमनुगच्छेदासीनश्चेत्तिष्ठेच्छयानश्चेदासीन उपासीत ।। १२ ।। सर्वं लब्धं निवेद्य तदनुज्ञया भुञ्जीत ।। १४ ।।
वसिष्ठ. ७, ३-४, ७, ९-१२, १४.

२. अर्थात् स्नातक, जिसका अर्थ है, जो नहा चुका हो, अर्थात् जिसने ब्रह्मचर्य को धो डाला हो। क्योंकि गृहस्थाश्रम में अर्थ और काम की भी प्राप्ति की अनुमति थी, इस कारण वहाँ ब्रह्मचर्य का विधान नहीं मिलता है।

३. गृहस्थो विनीतक्रोधहर्षो गुरुणानुज्ञातः स्नात्वासमानार्षेयामस्पृष्टमैथुनामवरवसीं सदृशीं भार्यां विन्देत ।।
वसिष्ठ, ८, १.

४. सायमागतमतिथिं नापरुन्ध्यात् ।।
वही, ४.

५. यस्य नाश्नाति वासार्थी ब्राह्मणो गृहमागतः ।
सुकृतं तस्य यत्किंचित्सर्वमादाय गच्छति ।।
वही, ६.

६. युक्तः स्वाध्याये यज्ञे प्रजनने च ।।
वही, ११.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सूत्रों में गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों का आधार और सबसे श्रेष्ठ कहा गया है।[1] अन्य आश्रमों और गृहस्थाश्रमों का वही सम्बंध है जो नदियों और समुद्र का।[2] जिस प्रकार सब प्राणी माँ का आश्रय लेकर जीवित रहते हैं, उसी प्रकार भिक्षु गृहस्थों पर आधारित रहते हैं।[3]

वानप्रस्थी के आचार से सम्बन्धित सूचना भी सूत्रों से मिलती है। उसे जंगल में रहना चाहिए। ग्राम में आना उसके लिए अनुचित माना गया है। उसे स्वतः उत्पन्न फलादि का प्रयोग करना चाहिए। उसे क्षमाशील होना चाहिए। मूल, फल और भिक्षा में मिली वस्तुओं से आगत अतिथियों का स्वागत करना चाहिए। प्रतिग्रहण उसके लिए वर्जित था।[4] इस प्रकार की आचारावली का उद्देश्य मनुष्य को संसार से दूर रहने और आत्म-नियन्त्रित होने का अभ्यास करवाना था।

सब प्राणियों को अभय दान देना और किसी से भी नहीं डरना, वेद को छोड़ कर अन्य सभी कर्मों का त्याग और तप, ये बातें परि-

---

१. तेषां गृहस्थो योनिरप्रजनत्वादिरेतेषाम्।
गौतम, १, ३, ३.

२. यथा नदीनदाः सर्वे समुद्रे यान्ति संस्थितिम्।
एवमाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥
वसिष्ठ, ८, १५.

३. यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षुकाः॥
वही, ८, १६.

४. ग्रामं च न प्रविशेत ॥२॥ न फालकृष्टमधितिष्ठेत् ॥३॥
अकृष्टं मूलफलं सञ्चिन्वीत ॥४॥ क्षमाशयः ॥६॥
मूलफलभैक्षणाश्रमागतमतिथिमभ्यर्चयेत् ॥७॥
दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयात् ॥८॥
वही, ९, २-४, ६-८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्राजक (संन्यासी) के लिए विहित हैं। उसका निवास-स्थान स्थायी नहीं होना चाहिए। उसे गाँव की सीमाओं, मन्दिरों या खाली मकान में और पेड़ों के नीचे रहना चाहिए।[1] उसे विरोधी भावनाओं से परे रहना चाहिए। किसी वस्तु के न मिलने पर दुःखी होना और उसके मिलने पर प्रसन्न होना, ये बातें उसके लिए प्रशस्त नहीं हैं।[2] सन्यासी का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति था जिसको प्राप्त करने के लिए हर प्रकार का त्याग आवश्यक था। उस व्यक्ति को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, जो ससार में लिप्त रहता हो, जिसे भोजन और वस्त्रादि में रुचि हो तथा जो सुन्दर निवास में रहना पसन्द करता हो।[3]

---

१. परिव्राजकः सर्वभूताभयदक्षिणां दत्त्वा प्रतिष्ठेत ॥

अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा चरति यो मुनिः।
तस्यापि सर्वभूतेभ्यो न भयं जातु विद्यते ॥

सन्न्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न सन्न्यसेत्।
वेदसन्न्यसनाच्छूद्रस्तस्माद्वेदं न सन्न्यसेत् ॥

अनित्यां वसतिं वसेत् ॥

ग्रामान्ते देवगृहे शून्यागारे वा वृक्षमूले वा ॥

अरण्यनित्यः ॥

वही, १०, १-२, ४, १२-३.

२. अलाभे न विषादी स्याल्लाभे नैव च हर्षयेत्।
वही, २२.

३. न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो
न चापि लोकग्रहणे रतस्य।
न भोजनाच्छादनतत्परस्य
न चापि रम्यावसथप्रियस्य ॥
वही, २०.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाकाव्यों में आश्रम

रामायण में चारों आश्रमों के उल्लेख हैं। ब्रह्मचर्य की समाप्ति के समय ब्रह्मचारी स्नान करता[1] और स्नातक कहलाता था। स्नातकों के तीन प्रकारों, विद्या-स्नातक[2], व्रत-स्नातक[3] और विद्या-व्रत स्नातक[4], की सूचना भी रामायण से मिलती है।

रामायण में गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में श्रेष्ठ बताया गया है।[5] मनुष्य इस आश्रम में अपनी पत्नी (जिसे धर्मपत्नी[6] या सह धर्मचारिणी[7] कहा गया है) के साथ विभिन्न कर्तव्यों का पालन करता था। यज्ञ की दीक्षा सपत्नीक ग्रहण की जाती थी।[8]

सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के बाद गृहस्थ वानप्रस्थ

---

१. इससे ऐसा सोचना कि ब्रह्मचारी नित्य स्नान नहीं करते थे, हास्यास्पद होगा। यह स्नान प्रतीकात्मक है। ब्रह्मचारी का ब्रह्मचर्याश्रम के अन्त में स्नान, ब्रह्मचर्य-व्रत की समाप्ति बताता है।

२. चरितब्रह्मचर्यस्य विद्यास्नातस्य धीमतः ।
रामायण, अयोध्या, ८२, ११.

३. व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विदितात्मनः ॥
वही, सुन्दर, २१, १७.

४. सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् सांगवेदवित् ।
वही, अयोध्या, १, २०.

५. चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
आहुर्धर्मज्ञ धर्मज्ञास्तं कथं व्यक्तुमिच्छसि ॥
वही, अयोध्या, १०६, २२.

६. वही, अरण्य, ३४, १५.

७. वही, अरण्य, १०, २१.

८. वही, बाल, अध्याय १३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आश्रम में प्रवेश करता था। वहाँ वह अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हुआ फलादि का आहार करता और वृक्ष के नीचे रहता था।[1]

वानप्रस्थी सामाजिक उत्तरदायित्वों से पूर्णतः मुक्त नहीं होते थे। अतिथि को आहार, जल और आसन देना वानप्रस्थियों का कर्त्तव्य था।[2] वनमें पत्नियों की उपस्थिति[3] और इन सामाजिक उत्तरदायित्वों के कारण बेञ्जामिन खाँ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वाल्मीकि के अनुसार वानप्रस्थियों और गृहस्थों में विशेष अन्तर नहीं था।[4] लेकिन निम्नांकित कारणों से यह मत आपत्तिजनक और अस्वीकार्य है।

---

१. हस्तादानो मुखादानो नियतो वृक्षमूलिकः।
वानप्रस्थो भविष्यामि अदृष्ट्वा जनकात्मजाम्॥
वही, सुन्दर, १३, ३८.

२. वही, अरण्य, १२, २६-३१

३. उदाहरणार्थ राम के साथ सीता का वन में जाना या अत्रि की पत्नी अनसूया का पति के साथ वन में रहना।

4. "Even the hermits are depicted as somewhat social; they did not shun society and social responsibility. They entertained their guests and showed hospilality to the strangers(Aranya, 12, 26, 27). The hermits were allowed to have their hermitages, for example, Sita went with Rama to the forest. Anusuya, wife of Atri, gave Sita a robe, gems and balsam (Ibid, 46,31). From this description, we can draw our conclusion that though the fourth ashrama existed Valmiki very suggestively pointed out that there is very little difference between the house-holder and the forest dweller"
Benjamin Khan : The Concept of Dharma in Valmiki Ramayana, p. 127.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्या अगस्त्य तथा अत्रि जैसे मुनियों को सामान्य वानप्रस्थियों का उदाहरण मानना उचित है ? पत्नी का साथ में रहना भी स्वधर्म के अनुसार ही है क्योंकि पति और पत्नी जीवनसाथी माने गये हैं । पत्नी को सहधर्मिणी और सहकर्मिणी कहा जाता था । अतः सदा अपने पति को सहयोग देना उसका कर्त्तव्य था । इसी कारण सीता ने महल में सुखी जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा वन में कष्टपूर्वक जीवन व्यतीत करना श्रेयस्कर समझा और वे राम के साथ वन में चली गयीं । और फिर राम का वनगमन भी तो वानप्रस्थाश्रम से सर्वथा भिन्न था ।

बेञ्जामिन खाँ ने वानप्रस्थियों द्वारा अतिथि-सेवा के संबंध में अगस्त्य द्वारा राम, सीता और लक्ष्मण के आतिथ्य का उल्लेख किया है । इसके विषय में भी दो शब्द कहना प्रासंगिक है । केवल रामायण ही नहीं, अन्यत्र भी वानप्रस्थियों के लिए अतिथियों का स्वागत विहित है ।[१] अगस्त्य ने राम को जल और आसन दिया, कुशल क्षेम पूछा और फल, मूल और पुष्पादि देकर कहा, "जो अतिथि की सेवा नहीं करता वह परलोक में अपने ही मांस का भक्षण करता है और आप तो धार्मिक राजा होने के कारण हमारे प्रिय अतिथि हैं"।[२]

वाल्मीकि ने परिव्राजक और भिक्षु शब्दों का प्रयोग संभवतः सन्यासाश्रमी के लिए किया है । सीता का अपहरण करने के लिये परिव्राजक वेश धारण करने वाला रावण स्वच्छ काषाय वस्त्र पहने था ।

१. रामायण, अरण्य, १२, २९-३१

२. राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ।
पूजनीयश्च मान्यश्च भवान् प्राप्तः प्रियातिथिः ॥
एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैश्चान्यैश्च राघवम् ।
वही, अरण्य, १२, ३०-३१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वह शिखा तथा छाते से युक्त था। पैर में खड़ाऊँ थी। उसके पास दण्ड और कमण्डलु भी थे।[1]

महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का विस्तृत विवरण मिलता है। भरद्वाज ने भृगु से आश्रमों के विषय में प्रश्न किया। उत्तर में भृगु ने बताया कि सबके हितकारी ब्रह्मा ने धर्म की रक्षा के लिए चारों आश्रमों को बनाया।[2] तत्पश्चात् उन्होंने विभिन्न आश्रमों के धर्मों का वर्णन किया।[3]

ब्रह्मचर्य आश्रम को महाभारत में गुरुकुल वास भी कहा गया है जिसमें प्रवेश करने पर बालक ब्रह्मचारी कहलाता था। ब्रह्मचारी वह है जो मनसा, वाचा और कर्मणा ब्रह्म (ईश्वर या वेद) की सेवा करे।[4] व्रत करना, इन्द्रियों को वश में रखना, वेदाध्ययन

१. तदासाद्य दशग्रीवः क्षिप्रमान्तरमास्थितः।
अभिचक्राम वैदेहीं परिव्राजकरूपधृक्॥
श्लक्ष्णकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही।
वामे चांसेऽवसज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू॥
परिव्राजकरूपेण वैदेहीमन्ववर्तत।
तामाससादातिबलो भ्रातृभ्यां रहितां वने॥
वही, अरण्य, ४६, २-४.

२ पूर्वमेव भगवता ब्रह्मणा लोकहितमनुतिष्ठता धर्मसंरक्षणार्थमाश्रमाश्चत्वारोऽभिनिर्दिष्टाः।
महा, शान्ति, १९१, ८.

३. वही, शान्ति, १९१, ८, और आगे।

४. ब्रह्मचारिणः ब्रह्मण्येव चारः कायवाङ्मनसां प्रवृत्तिर्येषाम्।
वही, शान्ति १९२, २४ पर नीलकंठ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करना, विहित कर्मों को करना, गुरु की सेवा करना और उनको प्रणाम करना, ये बातें ब्रह्मचारी के लिए निर्दिष्ट हैं।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति होने पर ब्रह्मचारी गुरु-दक्षिणा देकर उनकी अनुमति से अपने योग्य कन्या से विवाह कर, जीवन के दूसरे भाग, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।[2] गृहस्थाश्रम को अन्य सब आश्रमों का आधार बताया गया है। इस आश्रम में उसे पंच महायज्ञों (ब्रह्मयज्ञ देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मानुषयज्ञ) को करना चाहिए।[4] अहिंसा, सत्य, सब प्राणियों पर दया करना, शांति, सामर्थ्यानुसार दान देना, परस्त्रियों से सम्बन्ध न रखना, स्त्री की रक्षा करना, दान देना तथा मधु और मांस का वर्जन करना, ये बातें गृहस्थ के लिए विहित थीं।[5]

---

१. ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन्वसेत्सदा ॥
शुश्रूषां सततं कुर्वन्गुरोः संप्रणमेत च। वही, शान्ति, ६१, १९–२०.
वही, शान्ति, १९४, २४ भी देखिये।

२. द्वितीयमायुषो भागं गृहमेधी गृहे वसेत्। वही, शान्ति, २४३, १.
गुरुणा चाभ्यनुज्ञातः समावर्तेत वै द्विजः।
विन्देतानन्तरं भार्यामनुरूपां यथाविधि ॥
वही, अनुशासन, १४१, ३७.

३. तद्धि सर्वाश्रमाणां मूलमुदाहरन्ति। वही, शांति, १९१, ८.

४. वही, शांति १४६, ६–७

५. अहिंसा सत्यवचनं सर्वभूतानुकम्पनम्।
शमो दानं यथाशक्ति गार्हस्थ्यो धर्म उत्तमः ॥
परदारेष्वसंसर्गो न्यासस्त्रीपरिरक्षणम्।
अदत्तादानविरमो मधुमांसस्य वर्जनम् ॥
एष पंचविधो धर्मो बहुशाखः सुखोदयः।
देहिभिर्धर्मपरमैश्चर्तव्यो धर्मसंभवः ॥ वही, अनुशासन, १४१, २५–७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जब गृहस्थ वृद्ध हो जाय, उसकी संतान भी संतानयुक्त हो जाय, अर्थात् गृहस्थी के सब उत्तरदायित्वों को संभाल सकने की स्थिति में हो[1] तब उस संयतेन्द्रिय को पत्नी के साथ या बिना पत्नी के, जीवन के तीसरे भाग, वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए।[2] उसे घर में रहना छोड़कर वन में भूमि पर सोना चाहिए। जटा, दाढ़ी, चर्म और वल्कल(वृक्षों की छाल) धारण करना, देवताओं के लिए यज्ञ करना और अतिथि-सत्कार करना चाहिए। इन्द्रिय-संयम, क्षमाशीलता, पवित्रता आदि उसके लिए विहित नैतिक गुण हैं। अनुशासन पर्व के अनुसार जो वानप्रस्थी ऐसा आचरण करता है, वह देवलोक में जाकर महत्ता प्राप्त करता है।[3]

---

१. गृहस्थस्तु यदा पश्येत्वलीपलितमात्मनः ।
अपत्यस्यैव चापत्यं वनमेव तदाश्रयेत् ॥
तृतीयमायुषो भागं वानप्रस्थाश्रमे वसेत् ।
वही, शान्ति, २४४,४–५.

२. सदारो वाऽप्यदारो वा आत्मवान् संयतेन्द्रियः ।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥
वही, शांति, ६१,४.

३. तथैव वानप्रस्थस्य धर्माः प्रोक्ताः सनातनाः ।
गृहवासं समुत्सृज्य निश्चित्यैकमनाः श्रुतेः ॥
वन्यैरेव सदाहारैर्वर्तयेदिति च स्थितिः ।
भूमिशय्याजटाश्मश्रुचर्मवल्कलधारणम् ॥
देवतातिथिसत्कारो महाकृच्छ्राभिपूजनम् ।
अग्निहोत्रं त्रिषवणं तस्य नित्यं विधीयते ॥
ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः ।
एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते ॥
महा, अनुशासन, अध्याय १४१. पृ. ५९२२ (गीता प्रेस)।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन्यासाश्रम जीवन का अन्तिम भाग था। यह पूर्ण त्याग का जीवन होता था।[१] सन्यासी को क्रोध और मोह से दूर रहते हुए यम और नियम का अभ्यास करना चाहिए। इसके अन्तर्गत नीलकंठ ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पवित्रता, स्वाध्याय और ईश्वर के प्रति भक्ति का उल्लेख किया है।[२] इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने से मोक्ष की प्राप्ति संभव है।[३]

महाभारत में चारों आश्रमों के लिए विशिष्ट धर्मों के साथ-साथ उनके क्रम, पुरुषार्थों से उनके सम्बन्ध, आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की भी चर्चा मिलती है, जिनका उल्लेख आवश्यकतानुसार इसी अध्याय में किया गया है।

स्मृतियों में आश्रम

विभिन्न आश्रमों और उनके लिए बताये गये धर्मों की विस्तृत चर्चा स्मृतियों में मिलती है। विहित क्रमानुसार (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और अंत में सन्यास) आश्रमों का पालन करना श्रेयस्कर है। ऐसा करने से ही पुरुषार्थ की प्राप्ति भी संभव है। एक आश्रम से दूसरे आश्रम में जाकर अपनी सामर्थ्यानुसार हवन करते हुए, इन्द्रिय-संयम का अभ्यास करनेवाला, मरणोपरांत वृद्धि को अर्थात्-मोक्ष को प्राप्त करता है।[४] ऋणत्रय को चुकाने के बाद, विधिवत् वेदाध्ययन करने के

१. वही, शांति, १९२,३.

२. यमेषु अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाख्येषु चात्-शौच-सतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानाख्येषु नियमेषु स्वशास्त्रेति ॥ वही, शांति, २४४, ३० पर नीलकंठ।

३. वही, शांति, अध्याय २४५। विशेष विवरण के लिए देखिये काणे : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. ४१६-२६; मीज : धर्म और सोसायटी, पृ. ७४-६.

४. मनु ६, ३४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद, सन्तान उत्पन्न करने और यज्ञादि करने के बाद मन को मोक्ष में लगाना चाहिए। अन्यथा करने वाला नरकगामी होता है।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि स्मृतियों से ज्ञात वर्ण-व्यवस्था में शूद्र पशुतुल्य थे। उनके लिए उपनयन संस्कार वर्जित था। अन्य तीनों वर्णों के बालकों के लिए अलग-अलग अवस्था में यह संस्कार किया जाता था। जैसे ब्राह्मण के लिए ५ से लेकर १६ वर्ष[2] तक, क्षत्रिय के लिए ६ से लेकर २२ वर्ष तक और वैश्य के लिए ८ से लेकर २४ वर्ष तक की अवस्था या ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य बालकों के लिये क्रमशः ८, ११ और १२ वर्ष की अवस्था उपयुक्त समझी जाती थी। इस सम्बन्ध में कुल की परम्परा का भी ध्यान रखना चाहिए।[3] इस संस्कार के बाद बालक गुरु के पास जाता था और गुरु उसे वेद, सदाचार तथा पवित्रता की शिक्षा देते थे।[4] अध्ययन समाप्त करने के बाद ब्रह्मचारी

---

१. ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः॥
अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदाननुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥
वही, ६, ३५—७

२. देखिये पृ. २९-३०.

३. गर्भाष्टमेऽष्टमे वाब्दे ब्राह्मणस्योपनायनम्।
राज्ञामेकादशे सैके विशामेके यथाकुलम्॥
याज्ञवल्क्य, १, १४.

४. उपनीय गुरुः शिष्यं महाव्याहृतिपूर्वकम्।
वेदमध्यापयेदेनं शौचाचारांश्च शिक्षयेत्॥
वही. १, १५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्नातक कहलाता था[१] और गुरु की अनुमति लेकर विवाह करता था।

विवाह से गृहस्थाश्रम प्रारम्भ होता है। स्मृतियों में भी गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में श्रेष्ठ बताया गया है, क्योंकि इस आश्रम में रहकर मनुष्य अन्य आश्रमवालों की भी मदद करता था।[२] इसके अतिरिक्त त्रिऋण को चुकाना केवल गृहस्थाश्रमी के लिए सम्भव था। अतः पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए भी गृहस्थाश्रम अनिवार्य था।

स्मृतियों ने भी सामाजिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने के बाद गृहस्थ का जंगल को प्रस्थान करना उचित बताया है। यदि पत्नी वृद्धा हो तो वह भी उसके साथ जाती थी,[३] अन्यथा वह अपने पुत्र के साथ ही रहती थी।[४] वहाँ रहते हुए उसे मृग-चर्म अथवा वस्त्रखण्ड को धारण करना चाहिए। पंचमहायज्ञ को करने का निर्देश भी उसे दिया गया है। इन्द्रिय-संयम, सामान्य भोजन जैसे फल-फूल पर जीवन निर्वाह, वल्कल का प्रयोग करना उसके लिए उचित था।[५] संक्षेप में

१. ठाकुर : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ. ११२.

२. यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥
मनु, ३, ७८। वही, ६, ८९-९०, और पृ. ९६-८ भी देखिये।

३. ठाकुर : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ. ११७.

४. मनु(९,९४) के अनुसार विवाह के समय वर और कन्या की अवस्था क्रमशः ३० वर्ष और बारह वर्ष होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि पति के वृद्ध होने पर पत्नी वृद्धा न हो।

५. सुतविन्यस्तपत्नीकस्तया वाऽनुगतो वनम्।
वानप्रस्थो ब्रह्मचारी साग्निः सोपासनो व्रजेत्॥
अफालकृष्टेनाग्नींश्च पितॄन्देवातिथीनपि।
भृत्यांश्च तर्पयेत् श्मश्रुजटालोमभृदात्मवान्॥
याज्ञवल्क्य, वानप्रस्थ-धर्म प्रकरण, ४५-६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वानप्रस्थी के लिए इस प्रकार के आचरण का विधान इसलिए किया गया था, जिससे वह अपने शरीर को विभिन्न परिस्थितियों में रहने तथा विभिन्न शारीरिक कष्टों को झेलने के योग्य बना सके।

स्मृतियों से परवर्ती साधनों, उदाहरणार्थ, पुराणों, कामंदक नीतिसार, शुक्रनीतिसार आदि में भी आश्रमों का वर्णन है। ११वीं सदी की आश्रम-व्यवस्था के विषय में अलबीरुनी से सूचना मिलती है। अलबीरुनी के अनुसार केवल ब्राह्मणों के लिए ही चारों आश्रमों का विधान था, शेष तीनों वर्ण क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र केवल प्रथम तीन आश्रमों में ही प्रवेश करने के अधिकारी थे।[1]

आश्रम-धर्म

पिछले अध्याय में हमने देखा था कि चारों वर्णों के लिए सामान्य धर्म के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट आचारावली का भी विधान किया गया था, जिसे वर्ण-धर्म कहा गया है। इसी धर्म के पालन को स्वधर्म कहा जाता था। आश्रम-धर्म का तात्पर्य है चारों आश्रमों में विशेष रूप से विहित धर्मों से, जिनका वर्णन निम्नांकित है।[2]

ब्रह्मचर्य आश्रम

मानव-जीवन-काल के चार विभागों में सबसे पहला[3] विभाग ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया है। ब्रह्मचर्य शब्द का तात्पर्य इन्द्रिय-संयम अथवा वेदों का अध्ययन करने के लिये व्रत का पालन करने से है।[4]

---

१. मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. १३०

२. देखिये परिशिष्ट (धर्म)

३. चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरौ द्विजः।
मनु, ४, १.

४. ब्रह्म वेदः। तदध्ययनार्थं व्रतमुपचाराद् ब्रह्म। ब्रह्म चरितुं शीलमस्य। अमरकोष।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था।[१] इस संस्कार के पहले इच्छाओं, वाणी तथा भोजनादि से सम्बन्धित प्रतिबन्ध नहीं थे[२]। इस संस्कार के विना मनुष्य शूद्रों के समान धार्मिक कार्यों को नहीं कर सकते थे।[३] उपनयन के बाद उन्हें संयमित जीवन व्यतीत करना पड़ता था।

हम पिछले अध्याय में देख चुके हैं कि वर्ण-व्यवस्था के प्रारंभिक तथा पश्चात्कालीन स्वरूप में बड़ा अंतर था। पूर्व वैदिक काल की वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी। अतः अपनी योग्यता और रुचि के अनुसार अध्ययन करने या अन्य किसी भी व्यवसाय को अपनाने की छूट थी, लेकिन क्रमशः स्थिति बदलती गयी। वर्ण-व्यवस्था में कठोरता आ गयी, जिसके परिणामस्वरूप वर्णों में ऊँच-नीच का भेदभाव आ गया। शास्त्रकारों ने समाज को दो प्रमुख विभागों में बाँटा—आर्य[४] अथवा द्विज वर्ण, जिसका तात्पर्य ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों से था और शूद्र, जिनके लिये उपनयन संस्कार वर्जित था और जो, इस कारण, द्विज नहीं कहे गये। इन्हें एक-जाति, अर्थात् एक ही जन्म वाला माना गया।[५]

---

१. मनु, २, १७३.

२. प्रागुपनयनात्कामचारः कामवादः कामभक्षः ॥

गौतम, २, १.

३. न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदा मौंजिबन्धनात् ।
वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावेद्वेदे न जायत ॥
वसिष्ठ, २, ६.

४. गौतम, २, १२, २.

५. शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः ।
वही, २, १. ५१.
देखिये, पृ. ३६-४०

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपनयन संस्कार से पहले बालक कर्त्तव्य के बंधन से मुक्त रहते थे, लेकिन शूद्रों की तरह वे भी धार्मिक कार्य नहीं कर सकते थे।[1] उपनयन संस्कार की अवस्था, विभिन्न वर्ण के बालकों के लिए अलग-अलग बताई गई है। समान्यतया ब्राह्मण बालकों के लिए आठ वर्ष की, क्षत्रिय बालकों के लिये ११ वर्ष की और वैश्य बालकों के लिए बारह वर्ष की अवस्था ठीक समझी जाती थी।[2] कभी-कभी यह संस्कार इससे छोटी अवस्था में भी होता था।[3] लेकिन इसके लिए कोइँ निश्चित नियम नहीं थे।

विभिन्न वर्णों के उपनयन संस्कारों के लिए विशेष ऋतुओं का भी विधान था, जैसे ब्राह्मण का वंसत में, क्षत्रिय का ग्रीष्म में और वैश्य का शरद् में होना चाहिए।[4] तीनों के लिए मन्त्र भी अलग-अलग थे। ब्राह्मण बालक के लिए गायत्री का, क्षत्रिय के लिए त्रिष्टुभ का और वैश्य के लिए जगती का विधान था।[5]

---

१. न ह्यस्मिन्विद्यते कर्म किंचिदा मौंजिबन्धनात्।
वृत्त्या शूद्रसमो ह्येष यावद्वेदे न जायत ।। वसिष्ठ, २, ६.

२. गर्भाष्टमेषु ब्राह्मणमुपनयीत ।। गर्भैकादशेषु राजन्यं
गर्भाद्द्वादशेषु वैश्यम् ।। आपस्तंब, ४, १०, २-३.
द्रष्टव्य बोधायन, १, २, ८–१०.

३. गौतम, १, ६–८.

४. वसन्तो ग्रीष्मश्शरदित्यृतवो वर्णानुपूर्व्येण ।।
आपस्तंब, ४, १०, ४.
तुलनीय बौधायन, १, २, ११.

५. गायत्र्या ब्राह्मणमसृजत त्रिष्टुभा राजन्यं जगत्या वैश्यं न केनचि-
च्छन्दसा शूद्रमित्यसंस्कार्यो विज्ञायते ।। वसिष्ठ, ४, ३.
गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीभिर्यथाक्रमम् ।।
बौधायन, १, २, १२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इस आश्रम में ब्रह्मचारी गुरु के पास रहते थे। अध्यापन कार्य केवल ब्राह्मणों के लिए विहित था, अतः गुरु सामान्यतया ब्राह्मण वर्ण के ही होते थे। आपत्तिकाल में अर्थात् ब्राह्मण गुरु न उपलब्ध होने पर ही अब्राह्मण गुरु से शिक्षा प्राप्त करने की अनुमति दी गई है।[1]

बौधायन ने ब्रह्मचारी को भिक्षा माँगने,[2] सत्य बोलने, गर्व का त्याग करने, गुरु से पहले उठने, नृत्य तथा कंठ व वाद्य संगीत से दूर रहने, सुगन्धित वस्तुओं, माला, जूता, छाता और काजल आदि का त्याग करने का निर्देश दिया है[3]। गौतम के अनुसार उसे प्रत्येक विषय में गुरु की आधीनता स्वीकार करते हुए, गुरु की सेवा करनी चाहिए। ऐसा करने से जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी को स्वर्ग की प्राप्ति होती है।[4] वसिष्ठ ने ब्रह्मचारी के इन्हीं कर्तव्यों का उल्लेख किया है।[5] महाभारत में ब्रह्मचर्य को ब्रह्म का स्वरूप और सब धर्मों में श्रेष्ठ बताया गया है। इसके पालन से मनुष्य सद्गति को प्राप्त करता है।[6]

---

१. अब्राह्मणादध्ययनमापदि ।
वही, १, २, ४२.

२. वही, १, २, १७-८.

३. सत्यवादी ह्रीमाननहंकारः ।। पूर्वोत्थायी…।।
नृत्यगीतवादित्रगन्धमाल्योपानच्छत्रधारणाञ्जनाभ्यवर्जी ।।
वही, १, २, २१-२, २८.

४. आचार्याधीनत्वमान्तम् ।। गुरोः कर्मशेषेण जपेत् ।। एवंवृत्तो ब्रह्मलोकमवाप्नोति जितेन्द्रियः ।।
गौतम, १, ३, ४-५, ८.

५. वसिष्ठ, ७, ४-१७.

६. यदिदं ब्रह्मणो रूपं ब्रह्मचर्यमिदं स्मृतम् ।
परं तत् सर्वधर्मेभ्यस्तेन यान्ति परां गतिम् ।।
महा, शांति, २१४, ७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रह्मचारी तीन प्रकार के होते थे—उत्तम, मध्यम तथा हीन।[1]

आयु के पहले भाग (ब्रह्मचर्याश्रम) में ईर्ष्याहीन ब्रह्मचारी को गुरु या गुरु-पुत्र के पास रहना चाहिए। उसे गुरु से बाद में सोना और गुरु से पहले ही सोकर उठ जाना चाहिए। गुरु के सभी कामों को उसी प्रकार करना चाहिए, जैसे दास करते हैं।[2] गुरु का खाना-पीना समाप्त होने पर ही वह खाये या पिये। गुरु के बैठने के बाद वह बैठे और गुरु के सोने के बाद सोये। गुरु ने जो काम दिया हो, उसे समाप्त कर, नम्रतापूर्वक गुरु से अन्य कामों को करने की आज्ञा मांगे।[3]

ब्रह्मचारी को पवित्रता, संस्कार तथा व्रत व नियमों का पालन करते हुए गुरुकुल में वास करना चाहिए। नित्य स्नान करना चाहिए। अग्नि की आराधना और गुरु की सेवा करनी चाहिए। भिक्षा में जो कुछ भी मिला हो, उसे गुरु को अर्पित करे और मन लगाकर अध्ययन

---

१. वही, शांति, २१४, १०.

२. आयुषस्तु चतुर्भागं ब्रह्मचार्यनसूयकः।
गुरौ वा गुरुपुत्रे वा वसेद्धर्मार्थकोविदः॥
जघन्यशायी पूर्वं स्यादुत्थाय गुरुवेश्मनि।
यच्च शिष्येण कर्त्तव्यं कार्यं दासेन वा पुनः॥
वही, शांति, २४२, १६-७.

३. नाभुक्तवति चाश्नीयादपीतवति नो पिबेत्।
नातिष्ठति तथाऽऽसीत् नासुप्ते प्रस्वपेत् च॥
अभिवाद्य गुरुं ब्रूयादधीष्व भगवन्निति।
इदं करिष्ये भगवन्निदं चापि कृतं मया॥
ब्रह्मंस्तदपि कर्ताऽस्मि यद्भवान्वक्ष्यते पुनः।
वही, शांति, २४२, २१, २३-४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

करे।[१] गुरु की सेवा करना शिष्यत्त्व के लिए आवश्यक भी समझा जाता था।[२]

कौटिल्य ने भी चारों वर्णों और चारों आश्रमों के धर्मों का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र के अनुसार वेदाध्ययन करना, अग्नि की पूजा करना, भिक्षा माँगना, गुरु की सेवा करना और गुरु की अनुपस्थिति में गुरु पुत्र अथवा अपने से ज्येष्ठ ब्रह्मचारी की शुश्रूषा, ये कर्त्तव्य ब्रह्मचारियों के लिये उचित है।[३]

याज्ञवल्क्य स्मृति के ब्रह्मचारिधर्मप्रकरण में ब्रह्मचर्याश्रम के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया है। ब्रह्मचारी को गुरु तथा अन्य गुरु-जनों का सादर अभिवादन और स्वाध्याय करना चाहिए।[४] मन, वचन और कर्म से गुरु का हित करना चाहिए।[५] अन्य विचारकों के ही समान याज्ञवल्क्य भी मधु, मांस, काजल, जूठे भोजन, कटु वचन, स्त्री, हिंसा, अश्लील बातों[६] और पर-निन्दा को उसके लिए वर्जित बताते हैं।

ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते थे—

—नैष्ठिक ब्रह्मचारी, जो आजीवन गुरु के पास रहते थे तथा संयमित जीवन व्यतीत करते हुए ब्रह्मलोक को जाते थे। इनका

---

१. वही, शांति, १९१, ८.

२. मनु, २, १०९.

३. ब्रह्मचारिणस्स्वाध्यायोऽग्निकार्याभिषेकौ भैक्षव्रतत्वमाचार्ये प्राणान्तिकी वृत्तिस्तदभावे गुरुपुत्रे सब्रह्मचारिणि वा।
अर्थशास्त्र, १, ३.

४. याज्ञवल्क्य, ब्रह्मचारिधर्मप्रकरण, २५-६

५. हितं तस्याचरेन्नित्यं मनोवाक्कायकर्मभिः।
वही, २७.

६. टीकाकार ने अश्लील का तात्पर्य असत्य से माना है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

पुनर्जन्म नहीं होता अर्थात् ये मोक्ष को प्राप्त कर लेते थे।[1]

—वे, जो गुरु को दक्षिणा देकर, स्नान कर, गुरु की आज्ञा लेकर घर लौट जाते थे। ये तीन प्रकार के होते थे—वेद (विद्या) स्नातक, व्रत स्नातक और उभय स्नातक अर्थात् वेदव्रत स्नातक।[2]

मनु ने ब्रह्मचारी के आचरण व व्यवहार का उल्लेख सविस्तार किया है। उसके लिए ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-संयम) का पालन आवश्यक है। सांसारिक विषयों में लगी हुई ग्यारहों इन्द्रियों[3] (कान, चर्म, आँख, जीभ, नाक, गुदा, लिंग, हाथ, पैर, वाणी और मन) को उसी प्रकार नियंत्रण में रखना चाहिए जिस तरह सारथी इधर-उधर भागने वाले घोड़ों को अपने वश में रखता है।[4] विषयों के उपभोग से तृप्ति नहीं

---

१. नैष्ठिको ब्रह्मचारी तु वसेदाचार्य-संनिधौ।
अनेन विधया देहं सादयन्विजितेन्द्रियः।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति न चेहाजायते पुनः॥
वही, ४९-५०.

२. गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायाद्वा तदनुज्ञया।
वेदं व्रतानि वा पारं नीत्वा ह्युभयमेव वा॥
वही, ५१.

३. श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक्चैव दशमी स्मृता॥
एकादशं मनो ज्ञेयं...।
मनु, २, ९०, ९२

४. इन्द्रियाणां विचरतां विषयेष्वपहारिषु।
संयमे यत्नमातिष्ठेद्विद्वान्यन्तेव वाजिनाम्॥
वही, २, ८८। ८९—९० भी देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

होती अपितु इच्छा और भी बढ़ती ही जाती है ठीक वैसे ही, जैसे घी से अग्नि और भी अधिक प्रज्वलित होती है।[1]

अध्ययनार्थ गुरु के पास गये हुए ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह लौकिक, वैदिक तथा आध्यात्मिक ज्ञान देने वाले गुरु का अभिवादन करे।[2] अध्ययन के प्रारम्भ व अन्त में उनका चरण स्पर्श करे।[3] गुरु जब कहे "प्रारम्भ करो" तब अध्ययन शुरू करना चाहिए तथा यह कहने पर "अब बस करो" अध्ययन समाप्त करना चाहिए।[4] उसे गुरुजनों की शैय्या अथवा उनके आसन पर नहीं बैठना चाहिए यदि वह स्वयं बैठा हो और कोई बड़ा उधर आये, तो उठकर उनका सादर अभिवादन करना चाहिए[5] क्योंकि ज्ञान देने के कारण गुरु का महत्त्व पिता से भी अधिक है।[6] इसी कारण मनु ने अवस्था की अपेक्षा ज्ञान द्वारा वृद्धत्व को स्वीकार किया है।[7]

---

१. न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ वही, २, ९४.

२. लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च।
आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥ वही, २, ११७.

३ वही, २, ७१—२.

४. वही, २, ७३.

५. वही, २, ११९

६. उत्पादकब्रह्मदात्रोर्गरीयान्ब्रह्मदः पिता। वही, २, १४६। अवस्था में छोटा होने पर वह शिष्य के पिता-तुल्य माना गया है। अंगिरस् के विद्वान् पुत्र ने अपने चाचा और अपने बड़े भाइयों को पढ़ाते समय उन्हें पुत्र कहकर सम्बोधित किया और देवताओं ने इसे उचित बताया (वही, २, १५१–५)।

७ न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।
यो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ वही, २, १५६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसे शारीरिक पवित्रता को ध्यान में रखते हुए नित्य स्नान करना चाहिए।[1] विहित प्रकार से भिक्षा माँगनी चाहिए।[2] शहद, मांस, सुगन्धित चीजों, माला, स्त्रियों, तीखी चीज़ों, प्राणियों की हिंसा, तेल या उबटन, काजल, छाता, जूता, विषयासक्ति, काम, क्रोध, नृत्य, गाना, बजाना, द्यूत-क्रीडा, व्यर्थ की बात-चीत, परनिन्दा, असत्य और स्त्री-संबंध का परित्याग करना चाहिए।[3] गुरु की अपेक्षा उसकी वेशभूषा और उसका भोजन हीन होना चाहिए।[4] उसका आसन गुरु के आसन से नीचा होना चाहिए।[5] उसे गुरु-निन्दा कभी भी नहीं करनी चाहिए[6] क्योंकि इसके परिणाम बुरे होते है![7]

ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि के विषय में मनु का कहना है कि वह गुरु के पास रह कर ३६ वर्षों में तीनों वेदों का अध्ययन करे, अर्थात् प्रत्येक वेद के लिए १२ वर्ष का समय अपेक्षित है। लेकिन इसके आधे

१. वही, २, १७६.

२. वही, २, १८३-८.

३. वर्जयेन्मधु मांसं च गन्धं माल्यं रसान्स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यंगमञ्जनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
मनु, २, १७७-९.

४. हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्।
वही, २, १९४.

५. वही, २, १९८.

६. वही, २, २००.

७. वही, २, २०१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थात् १८ वर्ष और इसके भी आधे अर्थात् ९ वर्ष में भी उसे ऐसा करने की अनुमति थी।[1] शिक्षा की समाप्ति के बाद गुरु की अनुमति लेकर स्नान करे और तदुपरांत अपने ही वर्ण की कन्या से विवाह कर, वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे।[2]

कामंदक नीतिसार में भी इन्हीं कर्तव्यों की चर्चा है। मेखला पहनने वाले,जटा धारण करने वाले, दण्ड युक्त, केशविहीन (मुण्डित सिर वाले) और गुरु के आश्रम में रहने वाले विद्यार्थी को या तो आजीवन गुरुकुल में रहना चाहिए, या भली भाँति विद्या ग्रहण करने के बाद, अन्य आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा होने पर वापस लौटना चाहिए।[3] ऐसा कह कर कामंदक ने नैष्ठिक और उपकुर्वाण की ओर संकेत किया है।[4]

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि उत्तर वैदिक और तत्परवर्ती कालों में ब्रह्मचारी के कर्तव्यों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। ११वीं सदी में

---

१. षट्त्रिंशदाब्दिकं चर्यं गुरौ त्रैवेदिकं व्रतम्।
तदर्धिकं पादिकं वा ग्रहणान्तिकमेव वा।।
वही, ३, १.

२. गुरुणाऽनुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्।।
वही, ३, ४.

३. गुरौ वासोऽग्निशुश्रूषा स्वाध्यायो व्रतधारणम्।
त्रिकालस्नात्वा भैक्ष्यं गुरौ प्राणान्तिकी स्थितिः।।
तदभावे गुरुसुते तथा स ब्रह्मचारिणि।
कामतो वाऽऽश्रत्रान्यत्वं स धर्मो ब्रह्मचारिणः।।
स मेखली जटी दण्डी मुण्डी वा गुरुसंश्रयः।
अविद्या ग्रहणाद्गच्छेत्कामतो वाऽऽश्रमान्तरम्।
कामन्दक, २, २२–४

४. ठाकुर : प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, पृ. १११ और आगे।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
ऐसा ही आचार-व्यवहार विहित था, क्योंकि विद्यार्थी के विषय में अलबीरुनी ने लिखा है कि "वह दिन में तीन बार स्नान करता है तथा सुबह और शाम होम करता है। होम के पश्चात् वह गुरु की पूजा करता है। वह एक दिन उपवास करता है और एक दिन उपवास तोड़ता है। गुरुआवास में ही वह निवास करता है, जिसे वह केवल भिक्षा माँगने के समय ही छोड़ता है। और एक बार वह पाँच से अधिक घरों से वह नहीं माँगता—दोपहर को या शाम को। जो कुछ भिक्षा उसे मिलती है गुरु के सम्मुख उसे रख देता है, इसलिए कि इच्छा-नुसार वह ले ले। तब गुरु उसे शेष खाने के लिए आज्ञा देता है। इस प्रकार विद्यार्थी अपने गुरु के बचे भोजन से अपना पोषण करता है। फिर वह अग्नि के लिए दो तरह के वृक्षों—पलास और दर्भ की लकड़ी लाता है, इसलिए कि हिन्दू अग्नि की अधिक पूजा करते हैं, फूल चढ़ाते हैं।"[1]

ज्ञान का महत्त्व बहुत अधिक था क्योंकि यह मनुष्य के नेत्र के समान है।[2] इसके बिना मनुष्य पशुतुल्य रह जाता है।[3] और यदि कोई किसी से विशेष समझा जाता है तो इसलिए नहीं कि उसके पास अधिक हाथ या आँख है, अपितु इसलिए क्योंकि शिक्षा के कारण उसकी बुद्धि अधिक प्रखर हो जाती है।[4] अतः शिक्षा जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को जो दे उस व्यक्ति के प्रति अगाध श्रद्धा और अटूट विश्वास होना उचित और स्वाभाविक है।

---

१. मिश्र : ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ १३१.

२. ज्ञानं तृतीयं मनुजस्य नेत्रं...।
सुभाषित रत्नसंदोह, पृ. १९४।
देखिए, आल्टेकर : एजुकेशन इन एंशण्ट इण्डिया, पृ. ४.

३. विद्याविहीनः पशुः। नीतिशतक, १६.

४. अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
ऋ, १०, ७१, ७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राचीन भारत में शिक्षा निःशुल्क थी, यद्यपि सम्पन्न विद्यार्थियों के अभिभावक गुरुओं को यथासामर्थ्य सहायता देते थे।[1] तिलमुट्ठि जातक से पता चलता है कि जो शिष्य गुरु-भाग लेकर गुरु के पास जाते थे और जो कुछ लिये विना ही जाते थे, उन दोनों मे अंतर माना जाता था। वाराणसी के राजा ब्रह्मदत्त का पुत्र जब अध्ययन के लिए तक्षशिला गया तो गुरु ने पूछा—"आचार्य-भाग लाया है या धर्म-शिष्य बनना चाहता है?" राजकुमार ने कहा, "आचार्य-भाग लाया हूँ" और आचार्य के चरणों में एक हजार कार्षापण की थैली रख दी। स्पष्ट है कि यहाँ धर्म-शिष्य का तात्पर्य उससे है जो निःशुल्क शिक्षा ग्रहण करते हों।[2]

गुरु को पितृवत् समझना शिष्य का और शिष्य को पुत्रवत् समझना गुरुका कर्त्तव्य था। लेकिन उपर्युक्त जातक स पता चलता है कि धर्म-शिष्यों और आचार्य-भाग देने वालों शिष्यों के प्रति गुरु के व्यवहार में भिन्नता होती थी। धर्मशिष्य दिन में आचार्य का काम करते और रात में शिक्षा प्राप्त करते थे, जब कि दूसरे प्रकार के शिष्य जेष्ठ पुत्र की तरह रहते और दिन में शिक्षा प्राप्त करते थे।

विद्यार्थी जीवन में इन्द्रिय-संयम के महत्त्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। इसके निर्देश का उद्देश्य यह था कि विद्यार्थी एकाग्र-चित्त हो कर विद्याध्ययन में लगा रहे। अध्ययन में किसी प्रकार का व्यवधान न हो, और बालक का मन इधर-उधर न भटके, इसी कारण उसे घर से दूर गुरुकुल में रहना पड़ता था। बालक अपनी योग्यता के कारण एक ही पाठ को सीखने में कम या ज्यादा समय लेते हैं, इसी कारण ब्रह्मचर्याश्रम की कोई अवधि निश्चित नहीं थी और जब गुरु

१. आल्टेकर : एजुकेशन इन एंशण्ट इण्डिया, पृ॰ ८३ और आगे।
२. तिलमुट्ठि जातक, संख्या २५२।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विद्यार्थी की प्रगति से संतुष्ट होते थे, तब वह गुरु को दक्षिणा देने के बाद घर लौट सकता था।[1]

गृहस्थाश्रम

गृहस्थाश्रम का तात्पर्य जीवन के दूसरे भाग से है।[2] समावर्तन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी स्नातक कहलाता और विवाह के योग्य समझा जाता था। विवाह के साथ ही गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ होता था। इस आश्रम में पति और पत्नी परस्पर सहयोग करते हुए[3] विहित कर्तव्यों के अनुसार आचरण करते थे।[4]

बाध की चर्चा करते समय यह लिखा जा चुका है कि इस आश्रम की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कई प्राचीन भारतीय विचारकों ने किया, क्योंकि इस आश्रम में रहकर मनुष्य अन्य आश्रम वालों की सहायता कर सकता है और पंचमहायज्ञों को करते हुए त्रिऋण को भी चुका सकता हैं। गृहस्थाश्रमी के कर्तव्यों की चर्चा करते हुए, निम्नांकित पंक्तियों में हम त्रिऋण और पंचमहायज्ञों का भी वर्णन करेंगे।

गृहस्थाश्रमी का यह प्रमुख कर्तव्य था कि वह यथासामर्थ्य समस्त प्राणियों को अन्न आदि दे[5]। उसे चाहिए कि वह अतिथियों को भोजन

---

१. गुरवे दक्षिणां दत्वा समावर्तेद्यथाविधिः।
महा, शांति, २४२, २९.

२. द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।
मनु, ४, १.

३. गृहा दाराः सन्त्यस्य। अमरकोष।

४. सविधिपूर्वकं स्नात्वा भार्यामधिगम्य यथोक्तान्गृहस्थधर्मान्प्रयुञ्जान इमानि व्रतान्यनुकर्षेत्। गौतम, ९, १

५. यथाशक्तेनचान्नेन सर्वाणि भूतानि॥
वसिष्ठ, ८, १३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और आसन आदि देकर सन्तुष्ट करे।[१] केवल अपने लिए ही भोजन बनाना उसके लिए अनुचित समझा जाता था।[२] उन्हें, जो दाढ़ी व नाखून रखने वाले हों, जो अपने धर्म का विज्ञापन करते हों, जिन्होंने अनुचित प्रकार से अग्नि का परित्याग किया हो या जो गुरु का अपहित करने वाले हों इन सभी लोगों को बिना किसी भेद-भाव के भोजन देना गृहस्थाश्रमी का कर्त्तव्य है।[३]

मनु ने, लेकिन, पाखण्डियों के आतिथ्य-सत्कार को अनुचित बताया है। उनके अनुसार पाखण्डियों और निषिद्ध आचरण वालों का तो वाणी से भी सत्कार करना अनुचित है (अन्य वस्तुओं को अर्पित करने करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता)।[४] अन्य सम्माननीय अतिथियों का स्वागत, सामर्थ्यानुसार, आसन, शय्या, भोजन, फल और जल आदि से करना चाहिए।[५] उसे विघसाशी अर्थात् सबको बाँट कर खाने वाला होना चाहिए। अपने आश्रितों को खिलाने के बाद, जो भोजन बच रहता है, वह अमृत तुल्य होता है और उसे खाने वाला सत्फल को प्राप्त करता है।[६]

१. सायमागतमतिथिं नापरुन्ध्यात् ।। नास्यानश्नन् गृहे वसेत् ।
गृहेष्वभ्यागतं प्रत्युत्थानासनवाक्सूनृतानसूयाभिर्महयेत् ।।
वही, ८, ४–५, १२.

२. नात्मार्थं पाचयेदन्नम्......।
महा, शांति, २४३, ५.

३. वही, शांति, २४३, १०.

४. मनु, ४, ३०.

५. आसनाशनशय्याभिरद्भिर्मूलफलेन वा ।
नास्य कश्चिद्वसेद् गेहे शक्तितोऽनर्चितोऽतिथिः । वही, ४, २९.

६. महा, शांति, २४३, १२-३.
अन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः । वही, शांति, ६१, १२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपनी ही स्त्री से सन्तुष्ट रहने वाले गृहस्थाश्रमी[१] के लिए अपनी पत्नी से सन्तान उत्पन्न करना उचित समझा जाता था ।[२] पितृऋण को चुकाने के लिए भी ऐसा करना उचित माना गया था । दिन में सोना गृहस्थाश्रमी के लिए वर्जित था ।[३] ब्राह्ममुहूर्त में उठकर उसे धर्म और अर्थ पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपायों पर विचार करना चाहिए ।[४] इस आश्रम में सदाचरण करते हुए धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति अभीष्ट थी । अर्थोपलब्धि के साधनों का उचित होना प्रशंसनीय बताया गया है ।[५]

कौटिल्य के अनुसार स्वधर्म का पालन करते हुए अपनी जीविका चलाना, विहित विधि के अनुसार विवाह करना, अपनी पत्नी से ही सम्बन्ध रखना, देवता, पितरों, अतिथियों और भृत्यों को सन्तुष्ट करने के

---

१. स्वदारतुष्टः । वही, शान्ति, ६१, ११

२. प्रजामुत्पादयेद्युक्तस्स्वे स्वे वंशे जितेन्द्रियः ॥
बौधायन, २, ९, ३ । वसिष्ठ, ८, ११.
सन्तानमुत्पाद्य........।
महा, शान्ति, ६१, १०.

३. न दिवा प्रस्वपेज्जातु........।
वही, शांति, १९१, ८.

४. ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
मनु, ४, ९२.

५. समावृतानां सदाचाराणां सह धर्मचर्यफलार्थिनां गृहाश्रमो विधीयते । धर्मार्थकामावाप्तिर्ह्यत्र त्रिवर्गसाधनमपेक्ष्यागर्हितेन कर्मणा धनान्यादाय......।
महा, शान्ति, १९१, ८।
वही, शांति ६१, १४ भी देखिये ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद अवशिष्ट वस्तु को ग्रहण करना, इन कर्तव्यों की तरफ गृहस्थाश्रमियों को ध्यान देना चाहिए।[1]

कामन्दक ने गृहस्थाश्रमियों के लिए स्वधर्म से जीविकोपार्जन करना, विशेष अवसरों को छोड़ अन्य दिनों में अपनी पत्नी के साथ वास करना, देवताओं, पितरों और अतिथियों की पूजा करना, असहाय लोगों की सहायता करना, श्रुतियों और स्मृतियों के अनुसार आचरण करना गृहस्थाश्रमियों के लिये निर्दिष्ट बताया है।[2]

गृहस्थाश्रमी के आचार-व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ अन्य निर्देश भी थे, जैसे आशा का त्याग करना, सबके साथ समानता का व्यवहार करना, सांसारिक विषयों में अत्यधिक आसक्ति का परित्याग करना, शाठ्य और कुटिलता से दूर रहना, अत्यधिक भोजन न करना, कृतज्ञ होना, सत्य बोलना, व्यवहार में नम्र होना, क्रूरता का परित्याग करना और सबके प्रति क्षमा-भाव रखना।[3]

महाभारत में गृहस्थाश्रमियों के चार प्रकार उल्लिखित हैं :
—कुसूलधान्य अर्थात् वे, जो ६ कर्मों को करें। टीकाकार नीलकण्ठ ने षट्कर्मों के अन्तर्गत यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन दान और प्रतिग्रह का उल्लेख किया है।

---

१. गृहस्थस्य स्वकर्माजीवस्तुल्यैरसमानर्षिभिर्वैवाह्यमृतुगामित्वं देवपितृ-अतिथिभृत्येषु त्यागश्शेषभोजनं च।
अर्थशास्त्र, १, ३

२. अग्निहोत्रोपचरणं जीवनञ्च स्वकर्मभिः।
धर्मायं गृहिणां काले पर्व्ववर्जं रतिक्रिया॥
देवपित्रातिथिनाञ्च पूजादीनानुकम्पनम्।
श्रुतिस्मृत्यर्थसंस्थानं धर्मोऽयं गृहमेधिनः॥
कामन्दक, २, २५-६

३. महा, शान्ति, ६१, १०–१२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

—कुंभधान्य, अर्थात् वे, जो यजन, अध्ययन और दान में अनुरक्त रहें।

—अश्वस्तन, अर्थात् वे जो अध्ययन और दान को अधिक महत्त्व दें और

—कपोतीमाश्रित, अर्थात् वे जो केवल एक ही कर्त्तव्य करते हैं और वह है स्वाध्याय।[१]

अन्यत्र भी गृहस्थाश्रमियों के चार प्रकारों का उल्लेख है यद्यपि वर्गीकरण के आधार में विभिन्नता है। याज्ञवल्क्य ने निम्नांकित चार[२] प्रकारों की चर्चा की है—

—कुसूलधान्यक, जो इतनी सामाग्री का संकलन करते हों, जिससे उनके आश्रितों का १२ दिन तक भरण-पोषण हो सके।

—कुम्भधान्यक, जो अपने आश्रितों को ६ दिन तक पालने की सामग्री का संकलन करते हैं।

१. गृहस्थवृत्तयश्चैव चतस्रः कविभिः स्मृताः।
कुसूलधान्यः प्रथमः कुम्भधान्यस्त्वनन्तरम्॥
अश्वस्तनोऽथ कापोतीमाश्रितो वृत्तिमाहरेत्।
तेषां परः परो ज्यायान्धर्मतो धर्मजित्तमः॥
षट्कर्मा वर्तयत्येकस्त्रिभिरन्यः प्रवर्तते।
द्वाभ्यामेकश्चतुर्थस्तु ब्रह्मसत्रे व्यवस्थितः॥
महा. शान्ति, २४३, २–४.

२. याज्ञवल्क्य, गृहस्थधर्म प्रकरण, १२७।
तत्र स्वकुटुम्बपोषणे द्वादशाहमात्रपर्याप्तं धान्यं यस्यास्ति स कुशूलधान्यः। कुम्भीधान्यस्तु स्वकुटुम्बपोषणे षडहमात्रपर्याप्तधान्यः। त्र्यहः पर्याप्तं धान्यमस्यास्तीति त्र्यह्निकः। श्वोभवं धान्यादिकं श्वस्तनम्, न विद्यते श्वस्तनं यस्य सोऽश्वस्तनः॥
उपर्युक्त पर मिताक्षरा टीका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

—त्र्यह्निक का तात्पर्य उनसे है जो केवल तीन दिन के लिये आवश्यक सामग्री एकत्रित करते हैं और

—अश्वस्तनिक, अर्थात् वे जिनके पास केवल एक ही दिन के लिये आवश्यक सामग्री हो।

उपर्युक्त प्रकार संभवतः केवल ब्राह्मण गृहस्थाश्रमियों के ही रहे होंगे क्योंकि नीलकंठ द्वारा उल्लिखित षट्कर्म केवल ब्राह्मणों के स्वधर्म के रूप में ही विहित थे। इसी प्रकार अनाज संग्रह कितने दिन का किया जाय यह समस्या भी संभवतः ब्राह्मणों के सामने ही रहती होगी, क्योंकि कृषि तो वैश्यों का विशिष्ट व्यवसाय होता था और क्षत्रियों द्वारा भी ब्राह्मणों को दान देने का विधान यह स्पष्ट करता है कि वैश्यों और क्षत्रियों के पास पर्याप्त खाद्य-सामग्री रहती होगी। शूद्रों को तो एक पृथक् वर्ग में ही रखा गया था।

पंच महायज्ञ

इसके अन्तर्गत ब्रह्मयज्ञ या ऋषि यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, अतिथि यज्ञ अथवा नृयज्ञ और भूत यज्ञ का उलेख किया गया है। यज्ञ का तात्पर्य है कुछ देने या अर्पित करने से। पंच महायज्ञों के अन्तर्गत ऋषियों, देवताओं, पितरों, मनुष्यों और अन्य प्राणियों के प्रति किसी न किसी रूप में सामर्थ्यानुसार कुछ देना, विहित माना गया था। स्वाध्याय या ज्ञान के क्षेत्र में नई बातें खोज कर ब्रह्म यज्ञ, देवताओं के प्रति कुछ अर्पित कर देव यज्ञ, अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा व्यक्त कर उनके श्राद्ध इत्यादि के द्वारा तथा वंश-परम्परा को बनाये रख कर, पितृ यज्ञ, आगत अतिथियों के उचित स्वागत सत्कार से अतिथि यज्ञ और प्राणि मात्र की सहायता या भलाई कर भूत यज्ञ को सम्पन्न करने का विधान किया गया था।

इतने सीधे-सादे होने पर भी इन्हें महायज्ञ क्यों कहा गया? कारण स्पष्ट है। अपने दैनिक कार्यों को करते समय जाने-अनजाने में कुछ

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनिवार्य हिंसा हमसे हो जाती है, जैसे खेती करते समय मिट्टी में रहने वाले जीव-जन्तुओं की, जल का प्रयोग करते समय या घर में झाड़ू लगाते समय कुछ छोटे-छोटे जीवधारियों की, अनाज में रहने वाले कीड़ों आदि की। इस हिंसा का निराकरण करने के लिए भूत यज्ञ का विधान था। 'भव' (अर्थात् उत्पन्न होना) धातु से व्युत्पन्न भूत शब्द का अर्थ है 'वह, जो उत्पन्न हुआ हो या जिसका जन्म हुआ हो।' इस यज्ञ को करने के लिए गृहस्थाश्रमी इन्हें भोजन अर्पित करते थे, जैसे चींटी के लिए आँटा डालना आदि। इसी प्रकार ऋणत्रय को चुकाने के लिये ब्रह्म-यज्ञ, देव-यज्ञ और पितृ-यज्ञ का विधान था।

सामर्थ्यानुसार और आवश्यकतानुसार अन्य मनुष्यों का भला करना ही नृ यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ अथवा अतिथि-यज्ञ था। इन यज्ञों को करने के लिए किसी विधि-विधान या पुरोहित या ऋत्विग् या विशेष साधन और खर्च की आवश्यकता नहीं थी। एक दम सादे होने पर भी इनकी महत्ता अधिक थी। इसी कारण इन्हें महायज्ञ कहा गया और गृहस्थ का यह कर्त्तव्य माना गया कि वह प्रतिदिन इन्हें करे।

पंच महायज्ञों के प्राचीनतम उल्लेख संभवतः शतपथ ब्राह्मण[1] और तैत्तिरीय आरण्यक[2] में हैं।

---

१. पञ्चैव महायज्ञाः। तान्येव महासत्राणि भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञः
पितृयज्ञो देवयज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।
शतपथ, ११, ५, ६, १.
काणे: हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. ६९६ पर उद्धृत।

२. पञ्च वा एते महायज्ञाः सतति प्रतायन्ते सतति संतिष्ठते देवयज्ञः
पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्यज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति।
तैत्तिरीय आरण्यक, २, १०।
काणे द्वारा पूर्वोल्लिखित कृति, पृ. ६९६ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गौतम[१] और बौधायन[२] ने भी इन महायज्ञों का उल्लेख किया है। महाकाव्यों, स्मृतियों और पुराणों आदि में भी इनकी तरफ उचित ध्यान दिया गया है।

त्रिऋण

प्राचीन भारतीय विचारकों ने त्रिऋण—ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण—की चर्चा की है।[३] उनका विश्वास था कि जन्म लेने वाले इन तीनों ऋणों से युक्त होते हैं। वे ऋषियों के प्रति ऋणी होते हैं जिन्होंने महत्त्वपूर्ण व धार्मिक साहित्य की परम्परा को बनाये रखकर ज्ञान के क्षेत्र में योगदान दिया और अन्य लोगों को अपने अनुभवों से लाभान्वित किया है। देवता के प्रति हम ऋणी हैं, क्योंकि उनकी कृपा से ही हमारा जन्म होता है। उन्हीं के प्रसन्न रहने पर हम प्रगति कर सकते हैं। गीता के अनुसार प्रजा के साथ साथ प्रजापति ने यज्ञ की भी सृष्टि की और प्रजा से कहा, "इस यज्ञ के द्वारा तुम देवताओं को प्रसन्न करो और वे तुम्हें (धन-धान्यादि देकर) प्रसन्न करें। इस प्रकार परस्पर प्रसन्न करते हुए परम कल्याण की प्राप्ति करो। वे देवता यज्ञ से प्रसन्न होकर इष्ट वस्तुएं देंगे। जो

१. देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः ॥
   गौतम, ५, ३.
   देव-पितृ-मनुष्ययज्ञाः स्वाध्यायश्च बलिकर्म।
   वही, ५, ८.

२. अथेमे पञ्च महायज्ञास्तान्येव महासत्राणि—देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति ॥
   बौधायन, २, ६, १.

३. वाल्मीकि ने पाँच ऋणों का उल्लेख इन शब्दों मे किया है—
   देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथात्मनः ॥
   रामायण, अयोध्या, ४, १७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देवताओं द्वारा प्रदत्त वस्तुओं, को, उन्हें दिये बिना उपभोग करता है, वह चोर के समान है।"[1] पितृऋण का तात्पर्य है अपने पूर्वजों के ऋण से। पूर्वजों ने वंश परम्परा को बनाये रखा और हमे जन्म दिया। अतः उनका ऋण स्वीकार करना और उसे चुकाना हमारा धर्म है।

पंच महायज्ञ के अन्तर्गत वर्णित ब्रह्म यज्ञ, देव यज्ञ और पितृ यज्ञ से क्रमशः ऋषिऋण, देवऋण और पितृऋण से मुक्ति पाना कल्याण-कारी माना जाता था क्योंकि जो कोई अध्ययन किये बिना (अर्थात् ऋषिऋण चुकाये बिना), सन्तान उत्पन्न किये बिना (अर्थात् पितृ-ऋण से बिना उऋण हुए) और यज्ञ किये (अर्थात् देवऋण से मुक्त न होकर) मोक्ष की इच्छा करता है, उसका अधः पतन होता है।[2]

१. सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
गीता ३, १०—१२.

२. अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत्॥
अनधीत्य द्विजो वेदानुत्पाद्य तथा सुतान्।
अनिष्ट्वा चैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन्व्रजत्यधः॥
मनु, ६, ३६-७.
युक्तः स्वाध्याये यज्ञे प्रजनने च।
वशिष्ठ, ८, ११.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को विहित क्रम के अनुसार आश्रम-धर्म के पालन का महत्त्व इन शब्दों में बताया, "पितृगणों के लिए विधिपूर्वक किये गये यज्ञ द्वारा पितरों का, देव यज्ञ द्वारा देवताओं का और स्वाध्याय के द्वारा ऋषियों का पूजन करने के बाद अन्त-काल (जीवन के अन्तिम भागों) में जो अन्य आश्रमों का आश्रय लेता है, वह परम सिद्धि प्राप्ति करता है।"[1]

देव ऋण और ऋषि ऋण से तो अन्य आश्रम वाले भी उऋण हो सकते थे लेकिन सन्तानोत्पत्ति के द्वारा पितृ ऋण को लौटाना केवल गृहस्थाश्रमी के ही लिए संभव था। त्रिवर्ग की प्राप्ति केवल इसी आश्रम में संभव थी, क्योंकि आश्रम-धर्म के अनुसार अर्थ और काम पुरुषार्थों को भी केवल गृहास्थाश्रमी ही प्राप्त कर सकता था।[2] ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी के लिए धन संचय करने का विधान नहीं था। जिसे स्वयं ही दूसरों की सहायता पर आश्रित रहना पड़ता हो, उसके लिये दूसरों की मदद करना सर्वथा असंभव था। गृहस्थाश्रमी ही अन्य आश्रमियों की भी मदद करने की स्थिति में थे, इसी कारण गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों का आधार और सब आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया था।[3]

---

१. अर्चयित्वा पितृन्सम्यक् पितृयज्ञैर्यथाविधि।
देवान् यज्ञैर्ऋषीन्वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः॥
अन्तकाले च संप्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम्।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन् गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात्॥
महा, शांति, ६३, २०-२१.

२. पितृदेवतातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम्॥
वही, शांति, १२, १८.

३. देखिये, पृ. ९६—८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वानप्रस्थाश्रम

जीवन के तीसरे भाग की संज्ञा वानप्रस्थाश्रम थी, जिसमें वन को प्रस्थान करने का विधान था।[1] आश्रम-समुच्चय के अनुसार गृहस्थाश्रम के बाद इस आश्रम में प्रवेश करना चाहिए; लेकिन आश्रम-विकल्प के पक्ष में निश्चय करने पर, ब्रह्मचर्याश्रम के बाद सीधे वानप्रस्थी होना संभव था।

ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रमों के ही समान वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करने की कोई निश्चित अवस्था नहीं थी। जिस प्रकार विद्या-प्राप्ति के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता था, उसी प्रकार वह व्यक्ति वानप्रस्थी होने के योग्य समझा जाता था, जो विहित गृहस्थ–धर्मों का समुचित रूप से पालन कर चुका हो। इस आश्रम में संयमित और सादा जीवन व्यतीत करना अभीष्ट था।

गौतम धर्मसूत्र में वैखानस का तात्पर्य वानप्रस्थी से है। उसे वन में मूल और फल खाना चाहिए, अपने शरीर को कष्ट देना चाहिए, पचमहायज्ञों को करना चाहिए और वर्जित लोगों को छोड़कर अन्य अतिथियों का सत्कार करना चाहिए। वर्जित लोगों का तात्पर्य संभवतः चोरों, पापियों या निंदित आचरण करने वालों से है।[2] उसे बाल दाढ़ी और नाखून बढ़ाना चाहिए।[3] बौधायन ने वानप्रस्थियों

१. वनमेव प्रस्थो, वनस्य वा प्रस्थः प्रदेशः।
अमरकोष।

२. तत्रापि स्तेनपतितादीन्वर्जयेत्प्रतिषिद्धवर्जम्॥
गौतम, १, ३, २९ पर मिताक्षरा।

३. वैखानसो वने मूलफलाशी तपः शीलः॥ श्रावणकेनाग्निमाधाय॥
देवपितृमनुष्यभूतर्षिपूजकः॥ सर्वातिथिः प्रतिषिद्धवर्जम्॥
जटिलश्चीराजिनवासाः॥
वही, १, ३, २५–६, २८–९, ३३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

के दो प्रकारों – पचमानक (अग्नि से पकी हुई चीजे खाने वाले) और अपचमानक (जिनके आहार में अग्नि से पकी हुई वस्तुएँ नहीं होती) का उल्लेख किया है। आश्रम में आये हुए अतिथियों का स्वागत, देवताओं और ब्राह्मणों की पूजा तथा अग्निहोत्र और तपस्या करना उनका धर्म था।[१]

वसिष्ठ ने भी वानप्रस्थियों के लिए ऐसी आचारावली का विधान किया है। क्योंकि इस आश्रम में मनुष्य मोक्ष-प्राप्ति की तैयारी करता था, इसी कारण सीमित आवश्यकताओं वाला जीवन व्यतीत करने की सलाह उसे दी गयी थी, ताकि वह सांसारिक विषयों की तरफ से अपना ध्यान हटा ले और मोक्ष के लिए एकाग्रचित्त हो सके। इसी कारण (यथासंभव) गाँव में प्रवेश करना निषिद्ध माना गया। हृदय की उदारता के उद्देश्य से उनके लिए क्षमा एक आवश्यक गुण माना गया। दूसरों को देना ही उनके लिए अभीष्ट होना चाहिए, दूसरों से लेना नहीं।[२]

वानप्रस्थियों के सम्बन्ध में महाकाव्य भी उल्लेखनीय हैं। वाल्मीकि रामायण के मुनियों की तुलना वानप्रस्थियों और सन्यासियों से की जा सकती है और महाभारत में तो इनका वर्णन अति

---

१. अथ वानप्रस्थस्य-द्वैविध्यम् ।। पचमानका अपचमानकाश्चेति ।।
अतिथीन् पूजयेत्त्वपूर्वं काले त्वाश्रममागतान् ।
देवविप्राग्निहोत्रे च मुक्तस्तपसि तापसः ।।
बौधायन, ३, ३, १–२, २०.

२. वानप्रस्थो जटिलश्चीराजिनवासी ।। ग्रामं च न प्रविशेत् ।। क्षमाशयः ।। मूलफलभैक्षेणाश्र्यागतमतिथिमभ्यर्चयेत् ।। दद्यादेव न प्रतिगृह्णीयात् ।।
वसिष्ठ, ८, १–२, ६–८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विस्तार से किया गया है।[1] भीष्म के मत में ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों को करने के बाद, इन्द्रियों को संयम में रखते हुए, पत्नी के साथ या उसके विना ही वन को जाना चाहिए।[2] विशेष परिस्थितियों में इस क्रम का उल्लंघन (सम्भवतः केवल ब्राह्मण द्वारा ही) किया जा सकता था। । उदाहरणार्थ, मोक्ष की इच्छा करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मचारी भैक्ष्यचर्या स्वीकार कर सकता था। इस प्रकार आश्रम-विकल्प संभवतः केवल ब्राह्मणों के लिए ही अनुमित था।[3]

शान्ति पर्व के अनुसार वृद्धावस्था में, सामाजिक और पारिवारिक उत्तरदायित्वों से मुक्त होने के बाद, आयु के तीसरे भाग में मनुष्य को वन की ओर प्रस्थान करना चाहिए। उसे वन में उत्पन्न वस्तुओं का ही आहार करना चाहिए। भूमि पर सोना चाहिए ! दाढ़ी, नख और केश युक्त होना चाहिए। देवता और अतिथियों की पूजा करना उसका धर्म है। जो व्यक्ति अपने शरीर के आराम की तरफ ध्यान न देता हुआ इन नियमों का कठोरता पूर्वक पालन करता है,[4] उसके सब पाप

---

१. जटाधरणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च॥
सदारो वाऽप्यदारो वा आत्मवान्संयतेन्द्रियः।
वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत् कृतकृत्यो गृहाश्रमात्॥
महा, शांति, ६१, ३–४.

२. मिश्र : वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन, पृ. ५४२.

३. चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशांपते।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः॥
महा, शांति, ६१, ७.

४. तथैव वानप्रस्थस्य धर्माः प्रोक्ताः सनातनाः।
गृहवासं समुत्सृज्य निश्चित्यैकमनाः शुभैः॥

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं, जैसे अग्नि किसी चीज को जला डालती है।[१]

कौटिल्य ने भी वानप्रस्थाश्रमी को वन में संयमित और कठोर जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया है। उसके लिए ब्रह्मचर्य अभीष्ट है। उसे भूमि पर ही सोना चाहिए। मृगचर्म का प्रयोग करना चाहिए। अग्निहोत्र करना, देवताओं, (पितरों पूर्वजों) और अतिथियों की पूजा करना उसका धर्म है। उसके लिए वन में उत्पन्न वस्तुओं का आहार उचित है।[२]

अन्य आश्रमियों के ही समान, वानप्रस्थियों के विषय में भी मनुस्मृति में विस्तृत वर्णन मिलता है। जब शरीर में झुर्रियाँ पड़ जांय, बाल पक जाँय और पुत्र भी पुत्र वाले हो जाँय, तब गृहस्थ को जितेन्द्रिय हो, अपनी पत्नी को पुत्र के संरक्षण में छोड़कर, या उसे भी अपने साथ लेकर वन चले जाना चाहिए। यज्ञ की आवश्यक सामग्री उसके हाथ होनी चाहिए, जिससे वह पंच महायज्ञों को नियमित रूप से कर

वन्यैरेव सदाहारैर्वर्तयेदिति च स्थितिः।
भूमिशय्याजटाश्मश्रुचर्मवल्कलधारणम् ॥
देवतातिथिसत्कारो महाकृच्छ्राभिपूजनम्।
अग्निहोत्रं त्रिषवणं तस्य नित्यं विधीयते ॥
ब्रह्मचर्यं क्षमा शौचं तस्य धर्मः सनातनः।
एवं स विगते प्राणे देवलोके महीयते ॥
वही, अनुशासन. अध्याय १४१, पृ. ५९२२ (गीता प्रेस)
वही, शांति, ६१, ४–९; १९२, १, ३; २४४, ४–२२.

१. वही, शांति, १९२, १.

२. वानप्रस्थस्य ब्रह्मचर्यं भूमौ शय्या जटाऽजिनधारणाग्निहोत्राभिषेकौ देवतातिथिपितृपूजा वन्यश्चाहारः।
अर्थशास्त्र, १, ३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सके।[1] मृग-चर्म और वल्कल को धारण करना, जटा, दाढ़ी व नाखून रखना, प्रातःकाल तथा सायंकाल स्नान करना, स्वाध्याय करना, सब पर दया करना, दान देना और दान स्वीकार न करना, ये बातें उनके लिए विहित हैं।[2] शरीर को कष्ट सहने की आदत हो, परिस्थितियों तथा जलवायु का प्रभाव उस पर न पड़े, इस उद्देश्य से उसे ग्रीष्म ऋतु में पंचाग्नि तप करना चाहिए, वर्षा में भीगना चाहिए और सर्दी में गीला कपड़ा पहनना चाहिए।[3] जमीन पर या पेड़ों के नीचे ही सोना चाहिए।[4] असाध्य रोग से पीड़ित होने पर उसे महाप्रस्थान का निर्णय करना चाहिए, अर्थात् उसे केवल जल और वायु पर ही आश्रित रहते हुए दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान करना चाहिए।[5] इस प्रकार आचरण करने वाला जितेन्द्रिय वानप्रस्थी मोक्ष को प्राप्त करता है।[6]

---

१. मनु, ६, १–५.

२. वसीत चर्म चीरं वा सायं स्नायात्प्रगे तथा।
जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च॥
स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥
वही, ६, ६, ८.

३. वही, ६, २३.

४. अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥
वही, ६, २६.

५. अपराजितां वाऽऽस्थाय व्रजेद्दिशमजिह्मगः।
आनिपाताच्छरीरस्य युक्तो वार्यनिलाशनः॥
वही, ६, ३१,

६. वही, ६, ३२

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

याज्ञवल्क्य ने भी वानप्रस्थी के आचरण के विषय म ऐसे ही निर्देश दिये हैं। वे भी गृहस्थाश्रमी का अपत्नीक या सपत्नीक वन में जाना, इन्द्रिय-संयम करना, वहाँ पूजा करना, उपासना करना, पितृगणों, देवगणों और अतिथियों के लिए तर्पण करना, दाढ़ी, बाल व नाखून से युक्त होना, अंहकार-रहित होना, तीन बार स्नान करना, अध्ययन करना, दान देने में रुचि रखना और समस्त प्राणियों के हित में लगे रहना उचित बताते हैं।[१] शरीर-शोषण के विषय में याज्ञवल्क्य का मत महाभारत[२] और मनुस्मृति[३] से तुलनीय है।[४] उसे अल्पाहारी होना चाहिए। फल आदि के अप्राप्य होने पर भिक्षा माँगनी चाहिए और केवल आठ ग्रास ही खाना चाहिए। अनन्तर केवल वायु पर ही आश्रित रहने वाले वानप्रस्थाश्रमी को शरीर नष्ट होने तक उत्तर की ओर महाप्रस्थान करना चाहिए।[५]

कामन्दक ने वनवासी के धर्मों के अन्तर्गत अग्निहोत्र, जमीन पर सोने, मृग-चर्म धारण करने, मूल और फल खाने, लेने की इच्छा का परित्याग करने, तीन बार स्नान करने और देवता तथा अतिथियों की पूजा करने का समावेश किया है।[६]

---

१. याज्ञवल्क्य, वानप्रस्थ-धर्म प्रकरण, ४५-६, ४८

२. महा, शांति, २४४, १०-११

३. मनु, ६, २३.

४. ग्रीष्मे पञ्चाग्निमध्यस्थो वर्षासु स्थण्डिलेशयः।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते शक्त्या वाऽपि तपश्चरेत् ॥
याज्ञवल्क्य, वानप्रस्थ-धर्म प्रकरण, ५२

५. -वही, ५४-५

६. जडत्वमग्निहोतृत्वं भूशय्याजिनधारणम्।
वनवासः पयोमूलनीवारफलवृत्तिता ॥
प्रतिग्रहनिवृत्तिश्च त्रिस्नानं व्रतचारिता।
देवातिथीनां पूजा च धर्मोऽयं वनवासिनः ॥ कामन्दक, २, २७-८

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रसिद्ध मुसलमान विद्वान् अलबीरूनी ने व्यक्तिगत पर्यवेक्षण पर आधारित अपने विवरण में वानप्रस्थियों का वर्णन करते हुए लिखा है, "वह गृहस्थी को छोड़ देता है, ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अगर उसकी पत्नी वानप्रस्थ नहीं अपनाती तो वह उसे अपनी सन्तति को सौंप देता है। वह जन सभ्यता से बाहर रहता है, और उस जीवन को पुनः अपनाता है जिसे वह सबसे पहले आश्रम में अपना चुका रहता है। वह छाजन की छाया के नीचे आश्रय नहीं लेता और न कोई परिधान धारण करता है, केवल कटिभाग को ढंकने के लिए वृक्ष की छाल मात्र पहनता है। वह पृथ्वी पर बिना बिछावन के सोता है। और केवल कन्द, मूल, फल खाकर अपना पालन करता है। वह बालों को बढ़ा लेता है। और तेल को नहीं मलता"।[1]

वानप्रस्थाश्रम आश्रम में, जैसा कि आश्रमों और पुरुषार्थों का संबंध बताते समय लिखा जा चुका है, मनुष्य को क्रमशः सांसारिक लगाव से दूर रहने का अभ्यास करना अभीष्ट था। कारण स्पष्ट है। विषय-वासनाओं में लगा रहने वाला व्यक्ति मोक्ष की ओर हृदय से एकाग्रचित्त हो ही नहीं सकता। इसी कारण सभी विचारक इस विषय पर एक मत हैं कि गृहस्थाश्रम में त्रिवर्ग की प्राप्ति करने के बाद, वानप्रस्थी को अर्थ और काम का परित्याग करना चाहिए। सीमित आवश्कताओं वाला जीवन व्यतीत करना चाहिए और धर्म का पालन करते हुए मोक्ष की ओर दत्तचित्त होना चाहिए।

सन्यासाश्रम

जीवन के अन्तिम विभाग का तात्पर्य सन्यासाश्रम से था।[2]

---

१. मिश्र : ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. १३३.

२. चतुर्थे चायुषः शेषे वानप्रस्थाश्रमं त्यजेत्।
महा, शांति, २४४, २३।
मनु, ६, ३३ भी देखिये।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सन्यास शब्द का तात्पर्य है पूर्ण त्याग से ।[१] वानप्रस्थी क्रमशः सामाजिक संबंधों से दूर होता था और इस आश्रम में एकमात्र मोक्ष में लगन लगाकर, तत्प्राप्ति हेतु प्रयत्न करता था। सन्यासी के लिए व्यवहृत अन्य शब्द हैं परिव्राजक[२], भिक्षु,[३] न्यासी[४] या परिव्राट्।[५] वानप्रस्थाश्रम के धर्मों को करने में असमर्थ होने पर सन्यास ग्रहण करना चाहिए।[६] बौधायन के अनुसार ७० वर्ष की अवस्था में सन्यासी बनना चाहिए।[७] आदर्श मानव-जीवन १०० वर्ष का माना जाता था। इसे चार भागों में विभक्त करने पर प्रत्येक के लिए २५ वर्ष का समय होना चाहिए। इस प्रकार सन्यासाश्रम का प्रारम्भ ७५ वर्ष की अवस्था में होना चाहिए, लेकिन जैसा कि उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है इसके विषय में कोई निश्चित अवस्था नहीं थी। विभिन्न व्यक्तियों की योग्यताओं और परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न आश्रमों का प्रारंभ और अंत अलग-अलग अवस्था में होता था। अल्पआयु में निधन हो जाने पर तो सब आश्रमों का पालन करना भी असंभव था।

धर्मसूत्रों में विभिन्न आश्रमों के कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए सन्यासी के विषय में कहा गया है कि उसके लिए किसी भी प्रकार

---

१. सम्यक् न्यासः प्रतिग्रहाणां सन्न्यासः ।
बौधायन, १०, १ पर विवर्ण टीका ।

२. वसिष्ठ, अध्याय १०.

३. गौतम, १, ३, २.

४. विष्णु पुराण, १, ३, ३६.

५. वही, ३, १८, ३६.

६. बौधायन २, १०, ७.

७. सप्तत्या ऊर्ध्वं सन्यासमुपदिशन्ति ।
वही, २, १०, ६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

का संग्रह करना वर्जित है।[1] सबको अभय दान देना[2] और वेद के अतिरिक्त अन्य सभी कर्मों का सन्यास करना उसका कर्त्तव्य माना गया है।[3]

सन्यासी को पूर्ण-त्याग का जीवन कैसे व्यतीत करना चाहिए इसका वर्णन शांति पर्व में भृगु ने किया है। अग्नि, धन, पत्नी और सन्तान के प्रति सर्वथा अनासक्त रहते हुए, वस्त्र, आसन, बिस्तर या सुख के अन्य साधनों का परित्याग करते हुए उसे इधर-उधर घूमते रहना चाहिए। सोना और पत्थर, अरि, मित्र और उदासीन, सभी उसकी दृष्टि में समान होने चाहिएँ।[4]

वृद्धावस्था और रोग से पीड़ित होने पर वानप्रस्थाश्रम के कर्त्तव्यों को करने में शारीरिक असमर्थता होने पर, जीवन के अंतिम भाग, सन्यासाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। इस समय उसे ऐसे यज्ञों को करना चाहिए, जो एक ही दिन में समाप्त हो जाय।[5] उसे 'आत्मयाजी' होना चाहिए, जिसका तात्पर्य नीलकण्ठ के अनुसार यह है कि सन्यासी को अपने जीवन-काल में ही अपना श्राद्ध कर लेना चाहिए।[6] क्रोध

१. अनिचयो भिक्षुः ॥ गौतम १, ३, १०.
२. वसिष्ठ, १०, ३
३. सन्न्यसेत्सर्वकर्माणि वेदमेकं न सन्न्यसेत्।
वही १०, ४.
४. परिव्राजकानां पुनराचारः, तद्यथा-विमुच्याग्नि-धन-कलत्र-परिबर्हणं सङ्गेष्वात्मनः स्नेहपाशानवधूय परिव्रजन्ति। समलोष्टाश्मकाञ्चनास्त्रिवर्गप्रवृत्तेष्वसक्तबुद्धयोऽरिमित्रोदासीनानां तुल्यदर्शना ..।
महा, शांति १९२, ३.
५. वही, शान्ति, २४४, २२२–४.
६. आत्मत्याजी जीवच्छ्राद्धादिकृत्।
वही, शांति, २४४, २४, पर नीलकण्ठी टीका।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और मोह का परित्याग करते हुए यम और नियम[१] (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान) का अभ्यास करना चाहिए ।[२] उसे किसी भी वस्तु की कामना नहीं करनी चाहिए। उसके लिए कुटी की भी आवश्यकता नहीं है। वह निरन्तर घूमता रहे। सूर्यास्त के समय वह जहाँ भी हो, वहीं रुक जाय। भाग्यानुसार जो कुछ भी मिल जाय, उसी से जीवन व्यतीत करे।[३]

कौटिल्य के शब्दों में परिव्राजक (संन्यासी) को अपनी इन्द्रिय को वश में रखना चाहिए। धन नहीं रखना चाहिए, समाज से दूर रहना चाहिए और आन्तरिक और बाह्य शुद्धि की तरफ ध्यान देना चाहिए।[४]

मनु ने सन्यासी के साथ त्रिदण्ड शब्द का प्रयोग किया है। त्रिदण्ड का तात्पर्य वाक्दण्ड, मनोदण्ड और कायदण्ड से है। निःसन्देह ऐसा कहकर मनु ने इस बात की ओर सकेत किया है कि सन्यासी को मनसा, वाचा और कायया सन्यासी हो जाना चाहिए। जो सन्यासी काम व क्रोध को रोककर, इस त्रिदण्ड का व्यवहार करता है, वह

१. वही, शांति, २४४, २२-३०

२. यमेषु अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाख्येषु चात-शौच-सतोषतपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानाख्येषु नियमेषु स्वशास्त्रेति ॥
वही शांति, २४४, ३० पर नीलकंठी टीका।

३. यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः।
वही, शांति, ६१, ८.

४. परिव्राजकस्य संयतेन्द्रियत्वमनारम्भो निष्किञ्चनत्वं सङ्गत्यागो भैक्षमनेकत्रारण्यवासो बाह्यमाभ्यन्तरं च शौचं च।
अर्थशास्त्र, १, ३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

मुक्ति को प्राप्त करता है।[1] याज्ञवल्क्य के दण्ड का तात्पर्य संभवतः इसी त्रिदण्ड से है।[2]

कामंदक ने भी सन्यासी के लिए पूर्ण त्याग का जीवन व्यतीत करने की सलाह दी है और कहा है कि वह सम्पूर्ण क्रियाओं का परित्याग करे, भिक्षा से ही संतुष्ट रहे, वृक्षों के नीचे सोये, किसी से कुछ ले नहीं, किसी का द्रोह न करे, सब प्राणियों को समान भाव से देखे, प्रिय और अप्रिय आदि के कारण उसके मन में विकार न हो, पवित्रतापूर्वक आचरण करें, इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर ले, नित्य ध्यान-मग्न रहे और अपनी भावनाओं को भी शुद्ध रक्खे।[3]

सन्यासियों के इस प्रकार के जीवन के विषय में विदेशी यात्रियों ने भी लिखा है। अरब यात्री सुलेमान के अनुसार "भारत में ऐसे लोग भी हैं, जो सदा पहाड़ों और जंगलों में घूमा करते हैं और लोगों से बहुत कम मिलते-जुलते हैं। जब भूख लगती है तब वे लोग जंगल

---

१. वाग्दण्डोऽथ मनोदण्डः कायदण्डस्तथैव च।
यस्यैते निहिता बुद्धौ त्रिदण्डीति स उच्यते॥
त्रिदण्डमेतन्निक्षिप्य सर्वभूतेषु मानवः।
कामक्रोधौ तु संयम्य ततः सिद्धिं नियच्छति॥
मनु, १२, १०–११.

२. याज्ञवल्क्य, यतिधर्म प्रकरण, ५८–९.

३. सर्व्वारम्भपरित्यागो भक्ष्याश्यं वृक्षमूलता।
निष्प्रतिग्र ताऽद्रोहः समता सर्व्वजन्तुषु॥
प्रियाप्रियपरिष्वङ्गः सुखदुःखविकारिता।
सबाह्याभ्यन्तरं शौचं वाङ्मनोव्रतचारिता॥
सर्वेन्द्रियसमाहारो धारणा ध्यान नित्यता।
भावसंशुद्धिरित्येष परिव्राड्धर्म्मं उच्यते॥
कामंदक २, २९–३१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

में फल या घास-पात खा लेते हैं। उनमें से कुछ लोग बिल्कुल नंगे रहते हैं। हाँ, चीते की खाल का टुकड़ा अवश्य उन पर पड़ा रहता है। मैंने इसी प्रकार के एक आदमी को धूप में बैठे हुए देखा था। सोलह बरस बाद जब मैं फिर उस ओर गया, तब भी मैंने उसको उसी प्रकार और उसी दशा में देखा। मुझे आश्चर्य है, धूप की गरमी से उसकी आँखें क्यों न बह गईं।"[1]

अलबीरुनी ने भी उनके आचार-व्यवहार का वर्णन किया है। उसके अनुसार "चौथा काल जीवन के अन्त तक चलता है। वह लाल वस्त्र और हाथ में एक दण्ड धारण करता है। सर्वथा ध्यानस्थ रहता है। वह मस्तिष्क को शत्रुता और मित्रता से तथा काम, क्रोध और लालसा से रहित कर देता है। वह किसी से एकदम संभाषण नहीं करता। किसी स्वर्गीय पुरस्कार-प्राप्ति के हेतु जब वह विशेष गुणयुक्त स्थानों का भ्रमण करता है तब वह मार्ग के गाँव में एक दिन से अधिक और नगर में पाँच दिन से अधिक नहीं रुकता। अगर कोई उसे कुछ देता है तो वह दूसरे दिन के लिए उसमें से नहीं बचाता। मुक्ति मार्ग की चिंता करने और जहाँ से इस संसार में नहीं लौटता उस मोक्ष तक पहुचने के अतिरिक्त उसके पास दूसरा कार्य नहीं।'[2]

आश्रम-व्यवस्था और स्त्रियाँ

प्राचीन भारतीय समाज में स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम महत्व दिया गया। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षणिक और व्यवसाय आदि सभी विषयों में स्त्रियों को स्वतन्त्रता नहीं थी अगर थी भी तो नहीं के बराबर। यत्र-तत्र विदूषि या अन्य क्षेत्रों में विशेषता प्राप्त करने वाली महिलाओं के उदाहरण मिलते हैं, लेकिन अनुपात की दृष्टि मे वे प्रायः नगण्य है। मानव-जीवन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण आश्रम-व्यवस्था के विषय में भी यही स्थिति थी।

१. मिश्र: ग्यारहवीं सदी का भारत, पृ. १३४.
२. वही, पृ. १३३-४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्रह्मचर्य और कन्याएँ

अथर्ववेद में ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली कन्याओं द्वारा योग्य पति की प्राप्ति की चर्चा है[1] लेकिन कालान्तर में यह प्रथा अप्रचलित हो गयी।[2] उपाध्याया (अध्यापन कार्य करने वाली) और उपाध्यायानी[3] (उपाध्याय की पत्नी) तथा सद्योद्वाहा (विवाह होने पर जिनकी शिक्षा समाप्त हो जाय) तथा ब्रह्मवादिनी (जो आजीवन विद्याध्ययन करतीं थीं) के कुछ उल्लेख स्त्रियों के शिक्षित होने के पक्ष में उल्लेखनीय उदाहरण हैं।[4] धर्मशास्त्रकारों ने स्पष्ट शब्दों में इसका निषेध किया। जब कन्या को केवल पिता, चाचा या भाई से पढ़ने की अनुमति थी, अन्य पुरुषों से नहीं,[5] तब फिर उसके लिये ब्रह्मचर्याश्रम का तो प्रश्न ही नहीं उठता। स्त्रियों के जीवन में पति-सेवा का वही महत्त्व था, जो ब्रह्मचारी के लिए गुरु-सेवा का। घर में काम की तुलना अग्नि-परिचर्या से की गयी है। जिस प्रकार बाल्यावस्था में बालकों के लिये उपनयन संस्कार होता था, उसी प्रकार बालिकाओं का विवाह बाल्यावस्था में करने का विधान किया गया।[6]

---

१. ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अर्थव, ११, ५, १८.

२. पुराकाले तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
आल्टेकर : एजुकेशन इन एंशण्ट इन्डिया, पृ २०७ पर उद्धृत।

३. आल्टेकर : पोजिशन ऑफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन, पृ. १३.

४. वही, पृ. १०—११.

५ पिता पितृव्यो भ्राता वा नैनामध्यापयेत्परः।
आल्टेकर : पूर्वोल्लिखित पुस्तक पृ. २०७.

६. वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥
मनु, २, ६७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

गृहस्थाश्रम और स्त्रियाँ

आश्रम-विकल्प के अनुसार पुरुष तो विशेष परिस्थितियों में गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों को किये बिना ही वानप्रस्थी या सन्यासी हो भी सकते थे, लेकिन स्त्रियों के लिये विवाह अनिवार्य था। कुणिगर्ग की पुत्री, सुभ्रू, ने विवाह न करके वृद्धावस्था तक तपस्या की, जिससे परमगति की प्राप्ति हो सके। नारद ने उसे मोक्ष-प्राप्ति के लिये विवाह को अनिवार्य बताया।[1] अंत में सुभ्रू ने अपनी तपस्या का आधा भाग एक ऋषि को देकर उससे विवाह किया।[2]

गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्यों को, पति-पत्नी, परस्पर सहयोग से करते थे। स्त्रियों को सन्तानोत्पत्ति का महत्व यह कह कर बताया जाता था कि उनकी सृष्टि ही, माँ बनने के लिये हुई है।[3] वे यज्ञादि कार्यों में भाग लेती थीं और अतिथि-सत्कार की ओर समुचित ध्यान देती थीं चाहे अतिथि ब्राह्मण हो, या अब्राह्मण।[4] ऐसे कर्त्तव्यों का विधान संभवतः इसलिये किया गया था, क्योंकि आदर्श पत्नियाँ अपने पतियों की सहधर्मिणी और सहकर्मिणी होती थीं। अतः उनके भी वही कर्त्तव्य हो जाते थे, जो उनके पति के हों। स्वतन्त्ररूप से स्त्रियों के लिये आश्रमों का स्पष्ट रूप से निर्देश देने वाले उदाहरणों का सर्वथा अभाव है।

वानप्रस्थ तथा सन्यासाश्रम और स्त्रियाँ

यह पहले ही बताया जा चुका है कि गृहस्थाश्रम की समाप्ति होने पर पुरुष पत्नी के साथ या उसके बिना ही वन को प्रस्थान करते थे।

---

१. असंस्कृतायाः कन्यायाः कुतो लोकास्तवानघे।
महा. शल्य, ५२, १२.

२. वही, शल्य, ५२, ३ और आगे।

३. प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थं च मानवाः।
मनु. ९, ९६.

४. भुवाल्कर: महाभारत में स्त्रियाँ, पृ. १०१-९.

CC-0. Agamnigam Digital Preseyation Foundation, Chandigarh
इससे यह स्वयं सिद्ध है कि स्त्रियों के लिए स्वतन्त्ररूपेण आश्रम-धर्म का पालन करना आवश्यक नहीं माना जाता था। पति के साथ वन में गई स्त्रियों के अनेक उदाहरण है। धृतराष्ट्र और गान्धारी[१] का इस संबन्ध में उल्लेख किया जा सकता है। सुकन्या,[२] रेणुका[३] और सीता ने वन-गमन किया। वानप्रस्थी अपनी सहगामिनी पत्नियों के अपमान का ध्यान रखते थे। मर्यादा भंग करने वाले को वे श्राप द्वारा दण्डित करते थे।[४] स्त्री द्वारा अनुचित व्यवहार का परिणाम वध-दण्ड था जैसा कि रेणुका के उदाहरण से जाना जा सकता है।[५] यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है कि वानप्रस्थी की मृत्यु हो जाने पर उसकी पत्नी का क्या होता था? यदि वह वन में ही रह जाती थी तो उसकी रक्षा का भार किस पर होता था?

वानप्रस्थियों के लिए भैक्ष-चर्या विहित थी। अनाथा स्त्रियों की व्यवस्था राज्य द्वारा की जाती थी। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस परिस्थिति में उनका पति के बिना वानप्रस्थिनी होना सर्वथा असम्भव था।

स्त्रियों द्वारा की गयी तपस्या से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते है। अरुन्धती[६], मृत्यु देवी[७], ययाति-पुत्री माधवी,[८] अत्रिभार्या[९],

---

१. महा, आश्रमवासिक, अध्याय १३.
२. वही, वन, १२२, २८–९ (गीता प्रेस).
३ वही, अनुशासन, ९५, १६—७.
४. वही, आदि, अध्याय ६.
५. वही, वन, अध्याय ११६.
६. वही, वन, १३०, १७; २२५, १४–५ (गीता प्रेस).
७. वही, द्रोण, ५४, १७ और आगे; शान्ति, २५८, १५–२४.
८. वही, आदि, ९३, पृ. २८१–२ (गीता प्रेस).
९. वही, अनुशासन, १४, ९५–८.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और सुलभा[1] ने तपस्या की। लेकिन ऐसे उदाहरणों को, अत्यल्प होने के कारण अपवाद माना जा सकता है। इतने से ही यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण होगा कि स्त्रियों के लिए आश्रम-विकल्प या तप सामान्यतया अनुमित थे।

पुरुषार्थ और स्त्रियाँ

कुछ प्रसंगों से स्त्रियों को पुरुषार्थों से सम्बन्धित किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, स्त्री ऋषियों द्वारा मन्त्रों की रचना[2] धर्म के साथ सम्बन्धित है। मुद्गलानी का स्वयं अपना रथ चलाना और पशु-धन जीत कर लाना अर्थ-प्राप्ति का उदाहरण[3] और अलंकृत स्त्रियों का पुरुषों को आकर्षित करना काम-प्राप्ति का उदाहरण[4] माना जा सकता है। सुलभा ने मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा से सन्यास ग्रहण किया था।[5] लेकिन ऐसे उदाहरण बहुत ही कम हैं। स्त्रियों द्वारा अर्थोपार्जन सर्वथा अशोभनीय माना जाता था। जीविकोपार्जन पति करता था और पत्नी से यह अपेक्षित था कि वह पति द्वारा कमाए गये धन का सदुपयोग करे।[6] अर्थोपलब्धि की ओर ध्यान न देने वाले पति को इस काम के लिए प्रेरित करना भी उसके लिए उचित था।[7] आश्रम और पुरुषार्थों के सम्बन्धों के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। जब स्त्रियाँ आश्रम धर्म का पालन निजी तौर पर करने के लिए अस्वतन्त्र थीं तो पुरुषार्थों से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध होना भी सम्भव नहीं था। वे तो त्रिवर्ग

१. वही, शान्ति अध्याय ३२०.
२, आल्टेकर : एजुकेशन इन एन्शण्ट इंडिया, पृ, २०६.
३. ऋ, १०, १०२, २.
४. वही, १०, २७, १२.
५. महा, शान्ति, अध्याय ३२०.
६. मनु, ९, ११.
७. महा, वन, १३२. १४ (गीता प्रेस).

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्राप्ति में पति की सहायिका थीं। इसी कारण पत्नी को त्रिवर्ग का आधार कहा गया है।[1]

इस सम्बन्ध में गौतम ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि धर्म के क्षेत्र में स्त्रियाँ अस्वतन्त्र होती हैं।[2] टीकाकार ने इस भाव को स्पष्ट करते हुए बताया है कि उसे अपने पति द्वारा अपनाये गये अनुष्ठानों में उसका अनुसरण करना चाहिए। शंख ने भी व्रत उपवास, यज्ञ, दान आदि धार्मिक कार्यों को स्वतन्त्र रूप से करना स्त्रियों के लिये निषिद्ध बताया है।[3]

आश्रम-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था

पूर्व वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था कठोर नहीं थी और आश्रम-व्यवस्था का तो उल्लेख ही नहीं मिलता, यद्यपि जीवन के विभिन्न विभागों के विषय में सूचना मिलती है। उत्तर वैदिक काल में वर्ण-व्यवस्था तो क्रमशः स्पष्ट होने लगती है और आश्रमों की प्रारम्भिक अवस्था का पता चलता है। कालांतर में वर्ण-व्यवस्था के कठोर होने पर दोनों में घनिष्ट संबध माना गया। ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारंभ, द्विज बालकों के वर्ण के अनुसार अलग-अलग अवस्था में होता था। शूद्र के लिए उपनयन संस्कार वर्जित था, अतः वह ब्रह्मचारी नहीं हो सकता था। शूद्रों को सामान्यतया यज्ञ करने की अनुमति नहीं थी, यद्यपि कहीं कहीं सब वर्णों द्वारा यज्ञ के उल्लेख हैं।[4]

---

१. भार्या मूलं त्रिवर्गस्य। वही, आदि, ७४, ४१.

२. अस्वतन्त्रा धर्मे स्त्री।
गौतम, १८, १.

३. उपर्युक्त पर हरदत्तकृत मिताक्षरा टीका।

४. सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः।
महा. शांति, ६०, ५३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ब्राह्मणों के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लिए भैक्ष-चर्या नहीं विहित थी।[1] इससे भी अन्य वर्णों के आश्रम-धर्म पर अनिवार्य प्रभाव की सूचना मिलती है।

संन्यासाश्रम केवल ब्राह्मणों के ही लिए विहित था, अन्य वर्णों के लिए नहीं।[2] अन्यत्र भी मोक्ष को विप्रों के ही लिए अनुमित बताकर कहा गया है कि जन्म से ही कोई विप्र नहीं होता। वही ब्राह्मण विप्र कहलाने के योग्य है जो जितेन्द्रिय, दयावान और क्षमावान हो। जिसमें ये बातें न हों, वह ब्राह्मण पापी है, विप्र नहीं।[3] मनु ने द्विजों को ही मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने की अनुमति दी है।[4] शूद्र के लिए तो सन्यास सर्वथा वर्जित था, शेष तीनों आश्रमों का पालन भी, राजा की अनुमति लेकर ही वही शूद्र कर सकता था जिसने तीन वर्णों की सेवा की हो, जो सन्तान उत्पन्न कर चुका हो, और जिसने सदाचार का पालन किया हो।[5] यहाँ तीन आश्रम का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। क्या ऐसा शूद्र सन्तानोत्पत्ति के बाद भी ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश कर सकता था ?

आश्रम व्यवस्था को व्यवहारिक बनाने के लिए उसमें कठोरता को स्थान नहीं दिया गया। किसी आश्रम के आरंभ होने या समाप्त होने की निश्चित अवस्था नहीं थी। अपनी बौद्धिक, नैतिक, मानसिक

---

१. भैक्षचर्या न विहिता।
 वही, वन, ३३, ५१.

२. ब्राह्मणस्य तु चत्वारंस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
 वर्णास्तान् नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥
 वही, शांति, ६२, २.

३. वही शांति, ६३, ७-८

४. मनु, ६, ३७.

५. महा, शांति, ६३, १२-३

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh
और शारीरिक सामर्थ्य के अनुसार एक से दूसरे आश्रम में प्रवेश किया जा सकता था। आचार्य भी विभिन्न आश्रमों के धर्मों का पालन करते थे।[1]

अत्रि की पत्नी ने पति से कहा कि सन्तान और अपने आश्रितों के लिए आवश्यक व्यवस्था करने के बाद ही प्रव्रजन करना उचित है।[2] कभी-कभी वानप्रस्थी अपनी सुविधानुसार अपने परिवारों के साथ वन में निवास करते थे।[3] अगस्त्य ने भी वन में रहते हुए पुत्र उत्पन्न करने का विचार किया।[4] गाधि ने वानप्रस्थाश्रम में सन्तान की प्राप्ति की।[5] इनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की छूट केवल ब्राह्मणों और ऋषियों को ही प्राप्त थी।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने समाज को चार भागों में विभक्त किया और इन्हें वर्ण की संज्ञा दी। समाज के चार विभाजनों की तरह, मानव-जीवन को भी चार विभागों में बाँटा और इन्हें आश्रम की संज्ञा दी। वर्णाश्रम-धर्म का निर्देश करने और स्वधर्म के पालन को महत्वपूर्ण बताने का उनका उद्देश्य यह था कि समाज और व्यक्ति, दोनों का जीवन नियोजित हो जिससे समाज और व्यक्ति के बीच होने वाले संघर्ष समाप्त हों और दोनों में सामञ्जस्य स्थापित हो सके। वर्णाश्रम-व्यवस्था को दैवी बताकर उन्होंने इसे सनातन स्वरूप देना चाहा, जिससे इसके महत्त्व और इसकी गंभीरता को लोग स्वीकार कर सकें।

आश्रम-व्यवस्था और पुरुषार्थों का संबंध स्वयं इसकी आवश्यकता को स्पष्ट करता है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं है कि आज कुछ

१. वही, शांति, २१८, ४ (गीता प्रेस).
२. महा, वन, अध्याय १८५ (गीता प्रेस).
३. मनु, ६ १, ३.
४. महा, वन. ९९, २४ (गीता प्रेस).
५. वही, अनुशासन, ४, ७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अपवादों को छोड़, सभी व्यक्ति कर्मणा वैश्य हैं और आज कोई भी नतो ब्रह्मचारी ही है, न वानप्रस्थी और न सन्यासी। सभी अर्थोपलब्धि और स्वार्थ में रत हैं। घर में रहकर अध्ययन करने वाले विद्यार्थी को भी संघर्ष का सामना करना पड़ता है। परिणामस्वरूप उलझन में पड़कर वे उन आदर्शों की प्राप्ति नहीं कर पाते जिनसे वे गंभीरतापूर्वक शिक्षा के आदर्शों को समझे और सीखें। और कभी-कभी तो विद्यार्थी जीवन में भी विवाह हो जाता है और दूसरे शब्दों में कहा जाय तो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम साथ-साथ चलते रहते हैं, यद्यपि दोनों आश्रमों के लिए विहित आचारावली में अत्यधिक अंतर है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट : १

धर्म

धर्म शब्द 'धृ' धातु से उत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है, सहारा देना या धारण करना। धर्म शब्द के अर्थ अनेक हैं, जो प्रसंगानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब यह कहा जाय कि गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना विद्यार्थी का धर्म है, तो इसका तात्पर्य कर्त्तव्य से होगा। देश-धर्म, कुल-धर्म, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म इत्यादि में इसके द्वारा क्रमशः देश, कुल, वर्ण एवं आश्रम के लिए विहित आचारावली का बोध होता है। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) के सन्दर्भ में इसका अर्थ है एक पुरुषार्थ। स्वभावजनित आवश्यक विशेषताओं को बताने के लिए भी इसका प्रयोग किया जाता है। धार्मिक सम्प्रदायों, जैसे बौद्ध धर्म, जैन धर्म, ईसाई धर्म, वैष्णव धर्म, और इस्लाम धर्म आदि के लिए भी यह शब्द व्यवहृत किया जाता है। महाभारत में, व्युत्पत्ति को आधार मानते हुए, इस शब्द की व्याख्या श्री कृष्णने इन शब्दों में की है, "जो धारण करता है, उसे धर्म कहते है। धर्म प्रजा (समाज) को धारण करता है। जो धारण करने की विशेषता से युक्त हो, वही निश्चित रूप में धर्म है।"[1] इसका तात्पर्य स्पष्ट है। समाज को धारण करने का भाव यह है कि धर्म समाज में व्यवस्था

---

१. धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥
महा, कर्ण, ६९. ५८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

स्थापित करके समाज को बनाये रखता है। अव्यवस्थित समाज ही, दूसरे शब्दों में, अराजकता की स्थिति है। सदाचार, नैतिकता आदि का आचार-व्यवहार में क्या महत्व है, यह भी हम धर्म से ही सीखते हैं। इन्हीं कारणों से प्राचीन भारतीयों ने, आधुनिक विचारकों की भाँति नीति (ethics या morality), सम्प्रदाय (religion) एवं व्यवस्था के लिए आवश्यक नियम या कानून (law) को अलग-अलग नहीं किया। वे सभी धर्म के अन्तर्गत समाविष्ट थे।

धर्म के स्रोत

प्राचीन भारत में आधुनिक व्यवस्थापिका सभा से तुलनीय नियम बनाने वाली कोई विशेष संस्था न थी। उस समय धर्म के आधार के रूप में विभिन्न प्रमाणों को स्वीकार किया गया था। गौतम के अनुसार वेद धर्म के आधार हैं और वेद के समान ही वेद को जानने वालों की स्मृति और उनके आचरण को भी प्रामाणिक समझना चाहिए।[१] वसिष्ठ ने भी श्रुति और स्मृति को धर्म का आधार माना और कहा कि इनकी अनुपस्थिति में सदाचरण को प्रामाणिक मानना चाहिए। शिष्टाचार के अर्थ को स्पष्ट करते हुए उन्होंने उसे शिष्ट बताया है जो निष्काम हो।[२] आपस्तम्ब ने धर्म के ज्ञाताओं के तरीकों (आचरण) और वेदों को धर्म का आधार बताया है।[३] महाभारत में वेद, स्मृति

---

१. वेदो धर्ममूलम्। तद्विदां च स्मृतिशीले।
गौतम. १, १–२.

२. श्रुतिस्मृतिविहितो धर्मः। तदलाभे शिष्टाचारः प्रमाणम्।
शिष्टः पुनरकामात्मा।
वसिष्ठ, १, ४–६.

३. धर्मज्ञसमयः प्रमाणं वेदाश्च।
आपस्तंब १, १. १, २.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

और सदाचार को धर्म से सम्बन्धित बताया गया है।[१] एक स्थान पर भीष्म ने श्रुति, स्मृति और सदाचार के साथ अर्थ, अर्थात् प्रयोजन का उल्लेख धर्म के चौथे स्रोत के रूप में, किया है।[२]

मनुस्मृति में सब वेदों को, वेदों को जानने वालों की स्मृति और व्यवहार को, सज्जनों के आचार को तथा आत्मतुष्टि को धर्म का प्रमाण माना गया है।[३] अन्यत्र मनु वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रिय को ही धर्म के लक्षण बताते है।[४] याज्ञवल्क्य स्मृति में भी धर्म के आधारों की चर्चा मिलती है। याज्ञवल्क्य ने श्रुति, स्मृति, सदाचार और आत्मप्रिय के अतिरिक्त एक पाँचवा आधार माना है और वह है अच्छे उद्देश्यों से उत्पन्न इच्छा।[५]

१. वेदोक्तः परमो धर्मः धर्मशास्त्रेषु चापरः।
शिष्टाचारश्च शिष्टानां त्रिविधं धर्मलक्षणम्॥
महा, वन, २०७, ८३.
वेदोक्तः परमोधर्मः स्मृतिशास्त्रगतो परः।
शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥
वही, अनुशासन, १४१, ६५.

२. सदाचारः स्मृतिर्वेदास्त्रिविधं धर्मलक्षणम्।
चतुर्थमर्थमित्याहुः कवयो धर्मलक्षणम्॥
वही, शांति, २५९, ३.

३. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनां आत्मनो तुष्टिरेव च॥ मनु, २, ६.

४. वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ वही, २, १२.

५. श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥
याज्ञवल्क्य, १, ७.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

श्रुति और स्मृति में किसे अधिक प्रामाणिक माना जाय, इस विषय में शांति पर्व में कहा गया है कि विभिन्न युगों में मनुष्यों की सामर्थ्य के अनुसार कर्त्तव्यों का निश्चय किया गया था। अतः वेदों के निर्देश प्रत्येक युग के लिये समान महत्त्व वाले नहीं हैं। उनका महत्त्व तो केवल उनकी लोकप्रियता के कारण ही है। श्रुतियों से ही व्यापक क्षेत्र-वाली स्मृतियाँ निकली हैं। अतः यदि वेदों को हर युग के लिये उपयोगी माना जाय तो स्मृतियों को भी वेदों पर ही आधारित होने के कारण, ऐसा ही मानना पड़ेगा। फिर कभी-कभी तो श्रुतियाँ और स्मृतियाँ मेल भी नहीं खातीं। ऐसी स्थिति में किसे अधिक महत्त्व दिया जाय और किसे कम।[1]

शांति पर्व में धर्म-संशय के अवसरों पर धर्म का निश्चय करने के लिये यह सुझाव दिया गया है कि ३ या १० विद्वानों की एक परिषद् बुलाकर, उनके निर्णय को अंतिम निश्चय मानना चाहिए।[2]

वन पर्व में युधिष्ठिर ने यक्ष के प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहा कि "तर्क अप्रतिष्ठित है, श्रुतियों के निर्देशों में भिन्नता है और कोई भी ऋषि ऐसे नहीं हैं जिनके मत को सभी लोग प्रामाणिक मानते हों। धर्म के तत्त्व अत्यन्त गूढ़ हैं। अतः धर्म के निश्चय के लिये सदाचार ही अधिक

---

१. आम्नायवचनं सत्यमित्ययं लोक-संग्रहः।
आम्नायेभ्यः परं वेदाः प्रसृता विश्वतोमुखाः॥
ते चेत्सर्वे प्रमाणं वै प्रमाणं तन्न विद्यते।
प्रमाणे चाप्रमाणे च विरोधे शास्त्रता कुतः॥
महा, वन, २०७, ६-१०. (क्रिटिकल एडिशन)

२. दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।
यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये॥
वही, शांति, ३७, १५ (क्रिटिकल एडिशन)

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महत्त्वपूर्ण है। जिस रास्ते से महापुरुष जाँय, उसी को मार्ग समझना चाहिए।"[१]

धर्म की इसी व्यापकता के कारण, अन्य किसी भी भाषा के इन विभिन्न अर्थों से युक्त किसी एक शब्द के द्वारा इसका अनुवाद करना संभव नहीं है। विभिन्न विदेशी व स्वदेशी विद्वानों ने इसकी व्याख्या की है। बाल गंगाधर तिलक के अनुसार यह "वह रास्ता है, जो पारलौकिक सुख की ओर ले जाता है। नीतिशास्त्र को धर्म की संज्ञा दी जा सकती है।"[२] हॉप्किन्स ने इसे सदाचार से संबंधित नियमावली माना है[३] और मैकेन्जी के अनुसार इसके अंतर्गत आचार के सभी पहलू समाविष्ट हैं।[४] भगवान दास के अनुसार यह शब्द नीति और धर्म से संबंधित हैं।[५]

---

१. तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥
वही, वन, ३१३. ११७ (गीता प्रेस)

2. "Path leading to next-worldly happiness...Ethics may be given the name of Dharma." Shri Bhagavad-gita Rahasya (English translation by B. S. Sukthankar) Vol. I, p. 88.

3. Dharma "implies in itself a code of human conduct to avoid all crimes..." Ethics of India, p. 12.

4. "Dharma covers not only conduct, but the whole conglomeration of forms of conduct that were settled or established." Hindu Ethics, p. 51.

5. The Science of Social Organisation (1910), p. 7.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

राधाकृष्णन् के मतानुसार यह उस स्थिति का द्योतक है, जो मनुष्य को संतोष के साथ-साथ सुख और मोक्ष की प्राप्ति में सहायता करती है। इसका उद्देश्य सबका कल्याण है।[१] काणे ने धर्म को जीवन का तरीका और आचार से संबंधित नियम बताया है[२] और मीज़ ने इसे वह शक्ति माना है जिसके कारण मनुष्य सामाजिक प्राणी की तरह जीवन व्यतीत करता है।[३]

उपर्युक्त मतों से धर्म की व्यापकता स्पष्ट है।

मानव-जीवन को व्यवस्थित और उसके क्रिया कलापों को बाधा-रहित बनाने के लिये कुछ नैतिक नियमों या मापदण्डों की अनिवार्यता असंदिग्ध है। धर्म इसी आवश्यकता की पूर्ति करता है और इस प्रकार समाज को धारण करता है। इसके द्वारा अभ्युदय और कल्याण की प्राप्ति होती है।[४]

युधिष्ठिर ने धर्म का तात्पर्य समझाते हुए कहा[५], "प्राणियों के अभ्युदय और कल्याण के लिए ही धर्म का प्रवचन किया गया है। अतः जो इस उद्देश्य से युक्त हो अर्थात् जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस्

---

१. इण्डियन फ़िलौसॉफ़ी (१९२९), भाग १, पृ. ५०५-६.

२. हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. २

३. धर्म ऐण्ड सोसायटी, आमुख, पृ. १२

४. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिस्स धर्मः । वैशेषिक सूत्र ।

५. प्रभवार्थाय भूतानां धर्म प्रवचनंकृतम् ।
य: स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।।
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।।
अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ।।
महा, शांति, १०९, १०-१२ ।

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सिद्ध होते हों, वही धर्म है, ऐसा शास्त्रवेत्ताओं का निश्चय है। धर्म का नाम 'धर्म' इसलिए पड़ा है क्योंकि वह सबको धारण करता है। धर्म ने ही सारी प्रजा को धारण किया है। अतः जिससे धारण और पोषण सिद्ध होता हो, वही धर्म है, ऐसा धर्मवेत्ताओं का निश्चय है। प्राणियों की हिंसा न हो, इसके लिए धर्म का उपदेश किया गया है। अतः जो अहिंसा से युक्त हो, वही धर्म है।"

धर्म का वर्गीकरण

प्राचीन भारतीय विचारकों ने धर्म की विभिन्नता पर विश्वास किया और धर्म का विभाग अनेकशः किया।[१] उदाहरणार्थ, श्रुतियों पर आधारित धर्म श्रौत धर्म कहा गया, स्मृतियों पर आधारित धर्म स्मार्त धर्म कहलाया और इसी प्रकार जो धर्म सदाचार पर आधारित था, उसे सदाचीर्ण धर्म की संज्ञा दी गयी।[२] देश-धर्म, जाति-धर्म और कुल-धर्म का उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि यहाँ धर्म की विभिन्नता देश, जाति और कुल पर आधारित है।[३]

धर्म मुख्यतया दो प्रकार के होते हैं—

—सामान्य धर्म, साधारण धर्म अथवा नित्य धर्म, जिसका तात्पर्य उस धर्म से है जो सर्व साधारण के लिये हो[४] और जो

१. द्रष्टव्य, बेञ्जामिन खां · दि कॉन्सेप्ट ऑफ़ धर्म इन वाल्मीकि रामायण, अध्याय ४, अधिकार भेद (दि रिलेटिविटी ऑफ़ दि लॉ ऑफ़ धर्म) पृ. १३२ और आगे।

२. वेदोक्तः परमो धर्मः स्मृतिशास्त्रगतो परः।
शिष्टाचीर्णः परः प्रोक्तस्त्रयो धर्माः सनातनाः॥
महा, अनुशासन, १४१, ६५.

३. देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन।
वही, शांति, ५४, २०। वही, भीष्म, ३, ३५ भी देखिये।

४. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहादिमनुष्यमात्रधर्मा न वर्णष्वाश्रमेषु वा नियताः। गौतम, १९, १ पर हरदत्त।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

देश, काल व पात्र के अनुरूप परिवर्तित न होता हो और

—विशिष्ट धर्म, जिसका तात्पर्य उस धर्म से है, जो देश, काल व पात्र के अनुरूप परिवर्तित हो ।[1] उदाहरणार्थ, वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, गुण-धर्म, नैमित्तिक धर्म, आपद्धर्म और युग धर्म ।[2] इन विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन निम्नांकित है—

साधारण धर्म

साधारण धर्म का तात्पर्य उन नैतिक कर्त्तव्यों से है जिनका करना सब लोगों के लिए सामान्यरूप से विहित हो और जो देश, काल तथा पात्र के अनुरूप परिवर्तित न होता हो । अहिंसा, ब्रह्मचर्य, दम अर्थात् इन्द्रिय-दमन, क्षमाशीलता, माता, पिता तथा आचार्य के प्रति श्रद्धा, बड़ों की आज्ञा का पालन करना, शील अर्थात् अच्छा व्यवहार, मधुर वचन, शरणागत—रक्षा, अतिथि—सेवा, अस्तेय अर्थात् किसी चीज को न चुराना, अच्छा चरित्र, ईमानदारी, विश्वासघात न करना, दूसरे की भलाई करना और शांति आदि साधारण धर्म के उदाहरण हैं । इनका विधान सभी धार्मिक सम्प्रदायों (religions) में मिलता है । काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य (ईर्ष्या) आदि का परित्याग करना भी विहित बताया गया है ।

---

१. पञ्चविधो धर्मः वर्णधर्मः आश्रमधर्मः उभयधर्मो गुणधर्मो नैमित्तिकश्चेति ।
गौतम, १९ के प्रारंभ में हरदत्त ।
वर्णधर्मशब्दश्च वर्णधर्माश्रमधर्मगुणधर्मनैमित्तिकधर्माणा—मुपलक्षकः ।
मनु, २, २५ पर कुल्लुक ।

२. धर्मशब्दः षड्विधस्मार्तधर्मविषयः । तद्यथा—वर्णधर्मः आश्रमधर्मः वर्णाश्रमधर्म गुणधर्मः निमित्तधर्मश्चेति ।।
याज्ञवल्क्य, १, १ पर मिताक्षरा ।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विशिष्ट-धर्म

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, जो धर्म विशेष व्यक्तियों के लिए (अथवा विशेष कालों या परिस्थिति) तथा विभिन्न स्थानों को दृष्टि में रखते हुए निर्दिष्ट किया गया हो, उसे विशिष्ट धर्म कहा जायगा। प्राचीन भारतीय विचारकों ने धर्म को व्यवहारिक बनाने के उद्देश्य से धार्मिक स्तरों में परिवर्तन उचित माना। इसी कारण विशेष उद्देश्य के लिये अथवा विशेष वर्ग के लिए अथवा विभिन्न परिस्थितियों के लिए विभिन्न प्रकार के धर्म का उल्लेख किया गया है। विशिष्ट धर्म के उदाहरण निम्नांकित हैं।

वर्ण-धर्म

विभिन्न वर्णों के लिये विशेष रूप से बताये गये धर्म को वर्ण-धर्म कहा गया है।[1] पहले अध्याय में वर्ण-व्यवस्था का वर्णन करते समय स्पष्ट किया जा चुका है कि प्राचीन भारतीय समाज चार वर्णों में विभक्त था। ये थे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। गुणजनित स्वाभाविक विशेषता के अनुरूप उनके लिए पृथक्-पृथक् प्रकार के धर्म को उचित बताया गया है। यज्ञ करना, दूसरों का यज्ञ करवाना, स्वाध्याय करना तथा दूसरों को पढ़ाना, दान देना और दान स्वीकार करना, ये ब्राह्मणों का विशिष्ट धर्म था। इसी प्रकार अध्ययन, यजन, दान, दूसरों की रक्षा करना और युद्ध में भाग लेना क्षत्रियों का, खेती, व्यापार और पशुपालन, वैश्यों का तथा तीनों द्विज वर्णों की सेवा करना शूद्रों का विशिष्ट धर्म था।

आश्रम-धर्म

मनुष्य के जीवन को चार भागों में बाँटा गया था। इन विभिन्न

---

१. वर्णप्रयुक्तो धर्मो वर्णधर्म उपनयनं ब्राह्मणस्याष्टम इति।
गौतम, १९. १ पर हरदत्त।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विभाजनों को आश्रम की संज्ञा दी गई है। इनके नाम क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम हैं।

इन चारों आश्रमों के लिए विभिन्न प्रकार के धर्म अर्थात् कर्तव्यों का निर्देश मिलता है। विभिन्न अवस्थाओं के लिए विशिष्ट प्रकार के धर्म का विधान मिलने के कारण आश्रम-धर्म को विशेष-धर्म का उदाहरण माना गया है। इस विशिष्ट धर्म का पालन करने के साथ-साथ सामान्य धर्म की ओर भी ध्यान देना आवश्यक है।

गुण धर्म

इसका तात्पर्य उस धर्म से है जो विशेष व्यक्तियों के पद के अनुसार भिन्न हो। उदाहरण के लिए राजा के कर्त्तव्य वर्ण आदि में समानता होने पर भी शासक होने के कारण यह स्वाभाविक था कि उसके कर्त्तव्य अपने ही वर्ण के अन्य व्यक्तियों से भिन्न हों। उदाहरण के लिए प्रजा की रक्षा करना, प्रजा का रंजन करना, प्रजा का पालन करना, आन्तरिक व्यवस्था बनाये रखना, बाह्य संकटों से राज्य को बचाये रखना, दण्ड देने की शक्ति का उचित प्रयोग करना और राज्य के विकास के लिए हर संभव प्रयास करना राजा का विशेष रूप स कर्त्तव्य था। ऐसा इसलिए था क्योंकि वह शासक होने के कारण सामान्य व्यक्तियों से कुछ विशेषता रखता था। पति-धर्म, पत्नी-धर्म इत्यादि का उल्लेख गुण धर्म के उदाहरण के रूप में किया जा सकता है।

नैमित्तिक धर्म

किसी विशेष प्रयोजन या निमित्त से किये जाने वाले कर्म नैमित्तिक धर्म कहे गये हैं। उदाहरण के लिए किसी निषिद्ध कार्य को करने पर उसके निराकरण के उद्देश्य से किये जाने वाले प्रायश्चित्त कर्म। महाभारत में ऐसे कर्मों की एक लम्बी सूची और उन कर्मों के करने पर विहित प्रायश्चित्त की सविस्तार चर्चा की गयी है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

युग धर्म

विभिन्न युगों में पालन किया जाने वाला धर्म युग-धर्म कहा गया है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने चार युगों, सत्य युग या कृत युग, त्रेता युग, द्वापर युग और कलि युग की कल्पना की है और बताया कि आचारावली भी इन्हीं युगों के साथ भिन्न होती गयी। महाभारत में भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया कि चारों युगों में धर्म अलग-अलग थे।[1] मनु ने भी ऐसा ही कहा है।[2] वन पर्व में हनुमान ने चारों युगों के अलग-अलग कर्त्तव्यों का वर्णन किया है।[3] पुराणों के "कलिधर्म" का उल्लेख भी इस सम्बन्ध में किया जा सकता है।

आपद्धर्म

आपत्तिकाल में जिस धर्म का विधान किया गया हो, उसका तात्पर्य आपद्धर्म से है। यह धर्म सामान्य परिस्थितियों के लिये विहित धर्म से भिन्न होना चाहिए। चाहे सामान्य धर्म हो या विशेष धर्म, आपद्धर्म सभी के लिए अनुमित माना गया है। उदाहरणार्थ, सत्य जैसे नैतिक गुण के सम्बन्ध में भी ऐसी व्यवस्था की गई थी और विशेष परि-स्थितियों में असत्य भाषण को भी अनुचित नहीं माना गया। महाभारत में कहा गया है कि प्राण-संकट होने पर, धार्मिक कार्यों के लिए, आवश्यक धन की रक्षा करने के लिए, स्त्रियों की रक्षा करने के लिए, असत्य भाषण अनुचित नहीं होता और इन कारणों से असत्य बोलने

---

१. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे चैव यथाशक्ति कृता इव।।
महा, शान्ति, २६०, ८

२. अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे परे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः।।
मनु, १, ८५.

३. महा, वन, अध्याय १४९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वाला पाप का भागी नहीं बनता।[1] गौतम ने सज्जनों की प्राणरक्षा के लिए इसे विहित बताया है और दुर्जनों के लिए निषिद्ध।[2] मनु भी सत्य के अपवादों की चर्चा करते हैं।[3]

विभिन्न वर्णों के लिए स्वधर्म का पालन करना उचित और विहित बताया गया था लेकिन वर्ण-व्यवस्था के अध्याय में यह बताया जा चुका है कि किस प्रकार आपत्तिकाल में स्वधर्म का परित्याग उचित समझा जाता था। राजा के कर्त्तव्य भी परिस्थिति के अनुसार बदलते रहते थे। ऐसे समय कर से सम्बन्धित उसकी नीति में परिवर्तन अनुमित था और अन्यथा निषिद्ध कार्यों को करने पर भी वह पाप का भागी नहीं माना जाता था।[4] राजा को चाहिए कि वह देश और काल को समझते हुए अपने कर्त्तव्यों को निश्चित करे।[5] ऐसा स्वाभाविक भी है। परिस्थितियों के अनुसार मनुष्य के आचरण के तरीके में परिवर्तन होना भी चाहिए। इसी कारण आपत्तिकाल में अधर्म भी धर्म का रूप ग्रहण कर लेता है।[6]

---

१. न नर्मयुक्तं वचनं हिनस्ति न स्त्रीषु राजन्न विवाहकाले।
न गुर्वर्थे नात्मनो जीवितार्थे पंचानृतान्याहुरपातकानि ॥
महा, शान्ति, १६५, ३२। देखिए, वही, आदि १३२, १६–७; शांति, १०९, १९–२०.

२. गौतम, १३। वही, ५ भी द्रष्टव्य.

३. मनु, ४, १३८.

४. महा, शांति, १३२, ६.

५. देशं कालं च विज्ञाय कार्याकार्य-विनिश्चये।
वही, शान्ति, १३८, १४.

६. तस्मादापत्स्वधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षणः ॥
वही, शान्ति, १३०, १६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट : २

पुरुषार्थ

हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि प्राचीन भारतीय विचारकों के अनुसार पुरुषार्थ या मानव जीवन के उद्देश्य चार हैं और इनके नाम हैं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।[1] धर्म का तात्पर्य पवित्रता, सदाचार और कर्त्तव्य-परायणता से है । अर्थ को प्राप्त करने का मतलब है सांसारिक समृद्धि को प्राप्त करना । काम का सामान्य अर्थ है इच्छाओं से । व्यक्तित्व के विकास के लिये इच्छाओं का पूरा होना भी आवश्यक है । इसी कारण काम का समावेश भी पुरुषार्थों के अन्तर्गत किया गया । मोक्ष का तात्पर्य पुनर्जन्म और पुनर्मृत्यु के बंधन से मुक्ति पाने से है । दूसरे शब्दों में, पुरुषार्थों का तात्पर्य जीवन के 'मूल्यों" से है । इन्हीं की सहायता से किसीके जीवन को अच्छा या बुरा, सफल या असफल कहा जा सकता है । इन "जीवन-मूल्यों" की कल्पना विभिन्न कालों में अलग-अलग थी । पूर्व वैदिक कालीन भारतीय सुखी ऐहिक जीवन को जीवन का अंत समझते थे और उपनिषदों में इसका स्थान अमृतत्व अथवा मोक्ष ने ले लिया ।[2] महाकाव्यों, स्मृतियों, पुराणों तथा कुछ अन्य कृतियों में चारों पुरुषार्थों का विस्तृत विवरण मिलता है ।

प्राचीन भारतीय विचारकों ने पुरुषार्थों को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है । जैसा कि डॉ. भगवान दास ने कहा है, त्रिवर्ग (धर्म,

---

१. देखिये, पृ. ९८-१०२.

२. देवराज: भारतीय संस्कृति, पृ २९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अर्थ और काम) की प्राप्ति से मोक्ष स्वतः प्राप्त हो सकता है।[1] इसी कारण अनेक स्थानों पर त्रिवर्ग की चर्चा मिलती है। एक बार जरासंध के वध के उद्देश्य से भीम और अर्जुन के साथ कृष्ण ने मगध जाने की योजना बनाई। युधिष्ठिर ने कहा, "तुम तीनों के बिना मैं जीवित रहने के लिये उसी प्रकार उत्साहित नहीं हो रहा हूँ, जिस प्रकार त्रिवर्गहीन व्यक्ति रोगी और दुःखी हों।"[2]

रामायण में रामचंद्र ने भी तीनों की आवश्यकता धर्म फल की प्राप्ति के लिये बताई और कहा कि तीनों के सह-अस्तित्व में किसी भी प्रकार की शंका करना अनुचित है।[3] अमरकोष के अनुसार संसार-सागर में अच्छी तरह जीवन नैया चलाने के लिये त्रिवर्ग आवश्यक है।[4]

---

1. "As the three ends of the path of pursuit are interdependent, so also all these, taken together one side, and the end of the path of pursuit on the other are interdependent also... only after renunciation of the lower is pursuit of the higher possible." The Hindu Social Organisation, p. 36.

२. त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मार्थकामरहितो रोगार्त इव दुःखितः॥
महा, सभा, २०, १३

३. धर्मार्थकामाः किल तात लोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ते तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रम्॥
रामायण, अयोध्या, २१, ५७,

४. दीक्षितार: हिन्दू ड्मिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन्स,
पृ. २७ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रिवर्ग में समाविष्ट विभिन्न पुरुषार्थों के क्रम, उनके महत्त्व और उनके दोष के विषय में जानना भी लाभदायक है। शांति पर्व के अनुसार धर्म का दोष (मल) फल-प्राप्ति की इच्छा, अर्थ का धन-संचय करके रखना और काम का, विषयों में अत्यधिक आसक्त रहना।[१] अर्थ और काम धर्म में अत्यधिक आसक्ति रखने वाले का परित्याग कर देते हैं। वह दुःख-सुख की भावनाओं से रहित मृत व्यक्ति के समान हो जाता है।[२] इस प्रकार धर्म की अति अनुचित मानी गयी है। भीम ने अर्थ मे अत्यधिक रुचि रखने वाले को निंदित बताया है[३]। वनपर्व के अनुसार धर्म और अर्थ को छोड़कर काम में अधिक आसक्ति होने पर धर्म, अर्थ और मित्रों से परित्यक्त उस व्यक्ति का अंत उसी तरह होता है, जैसे पानी सूखने पर मछली का।[४]

धर्म, अर्थ और काम को अलग-अलग जानकर किसी एक के प्रति अधिक आसक्ति रखना ठीक नहीं है। सभी पुरुषार्थ समान रूपसे महत्त्वपूर्ण

---

१. अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
सम्प्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः॥
महा, शांति, १२३, १०,

२. सर्वथा धर्मनित्यं तु पुरुषं धर्मदुर्बलम्।
त्यजतस्तात धर्माथौं प्रेतं दुःखसुखे यथा॥
वही, वन, ३३, २२ (गीता प्रेस).

३. वही, ३३, २५.

४. सततं यश्च कामार्थी नेतरावनुतिष्ठति।
मित्राणि तस्य नश्यन्ति धर्मार्थाभ्यां च हीयते॥
तस्य धर्मार्थहीनस्य कामान्ते निधनं ध्रुवम्।
कामतो रममाणस्य मीनस्येवांभसे क्षये॥
वही, ३३, २६-७.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

हैं। अतः सबका ही सेवन करना चाहिए।[1] मनु का भी ऐसा ही विचार है और उन्होंने धर्म और अर्थ या काम और अर्थ को अधिक महत्त्व देने वाले की निन्दा की है।[2]

महाभारत और मनुस्मृति की ही तरह विष्णु पुराण में भी तीनों को महत्त्वपूर्ण बताया गया है।[3]

यत्र-तत्र पुरुषार्थों के क्रम की चर्चा मिलती है। वन पर्व के अनुसार वह व्यक्ति इस लोक और पर लोक में सुख प्राप्त करता है; जो प्रारम्भ में धर्म का पालन करता है और तदुपरान्त धर्मपूर्वक धनोपार्जन करने के बाद विवाह और यज्ञादि करता है।[4] धर्म को नियामक माना गया है। इसका पालन करते हुए अर्थ और काम का सम्पादन करना चाहिए। भीम के मत में सर्वप्रथम धर्म, तदुपरांत धन और सबसे बाद में काम का अभ्यास करना चाहिए। यह दैनिक क्रम है। जीवन में इनके क्रम में कुछ परिवर्तन होना चाहिये और जीवन के

---

१. एवमेव पृथक् दृष्ट्वा धर्मार्थौ काममेव च।।
न धर्मपरमेवं स्यात् न चार्थपरमो नरः।
न कामपरमो वा स्यात् सर्वान् सेवेत सर्वदा।।
वही, वन, ३३, ८-९.
देखिये, वही, शल्य. ६०, २१-२.

२. धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः।।
मनु, २, २२४.

३. विष्णु पुराण, २, ११, ५-६

४. ये धर्ममेव प्रथमं चरन्ति धर्मेण लब्ध्वा च धनानि काले।
दारानवाप्य क्रतुभिर्यजन्ते तेषामयं चैव परश्च लोकः।।
महा०, वन, १८८, ९१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

प्रारम्भ, मध्य तथा अन्त में क्रमशः काम, अर्थ तथा धर्म का पालन करना उचित है ।[1]

जो इनका उचित विभाजन कर इनकी प्राप्ति का उपाय करे वही बुद्धिमान् है ।[2] विष्णु पुराण के अनुसार प्रातःकाल परस्पर अविरोधी धर्म और अर्थ की प्राप्ति का तथा धर्म और अर्थ का नाश करते हुए काम का पालन करना चाहिए । त्रिवर्ग को समदृष्टि से देखना उचित है ।[3]

हम ऊपर देख चुके है कि पुरुषार्थ समानरूपेण आवश्यक है, लेकिन उनके तुलनात्मक महत्त्व के विषय में मतैक्य का अभाव है। प्राचीन भारतीय साहित्य में कहीं धर्म को सर्वप्रमुख माना गया है, कहीं अर्थ को और कहीं काम को ।

धर्मशास्त्रीय मत

इस मत के अन्तर्गत धर्म को प्रधानता दी गई है । वन पर्व में

१. धर्मं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत् ।
अहन्यतुचरेदेवमेष शास्त्रकृतो विधिः ।।
कामं पूर्वे धनं मध्ये जघन्ये काममाचरेत् ।
वही, उद्योग, ३३, ४०–४१.

२. धर्मं चार्थं च कामं च यथावद् वदतां वर ।
विभज्य काले कालज्ञः सर्वान् सेवेत पण्डितः ।।
वही, वन, ३३, ४२.
देखिए वही, उद्योग, ३७, ५०.

३. ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय मनसा मतिमान्नृप ।
प्रबुद्धश्चिन्तयेद्धर्ममर्थं चाप्यविरोधयन् ।।
अपीडतया तयो कामं उभयोरपि चिन्तयेत् ।
दृष्टादृष्टविनाशाय त्रिवर्गे समदर्शिता ।।
विष्णु पुराण, २, ५—६.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्रिवर्ग को धर्म पर आधारित बताया गया है।[1] इसी से अर्थ और काम उत्पन्न होते हैं, अतः इसी का सेवन विशेषतः करना चाहिये।[2] कामन्दकीय नीतिसार[3] और मत्स्य पुराण[4] में भी ऐसा ही कहा गया है।

महाभारत,[5] रामायण,[6] बार्हस्पत्य सूत्र[7] और कौटिल्य के अर्थशास्त्र[8] में धर्म को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। धर्म की महत्ता जान, तदनुसार कार्य करने वाला सूर्य के समान तेजस्वी होता है और जो धर्महीन होता है वह पापबुद्धि होने के कारण राज्य प्राप्त करने के

---

१. त्रिवर्गोऽयं धर्ममूलं नरेन्द्र।
महा, वन, ४, ४.

२. धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते॥
वही, स्वर्गारोहण ५, ६२.
धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
वही, शांति, १२३, ४,
वही, वन, २३, २९ और उद्योग, १२४, ३७–८ भी देखिये।

३. धर्मादर्थोऽर्थतः कामः कामात्सुखफलोदयः। १, ४९.

४. धर्मादर्थस्तथा कामो धर्माल्लोकद्वयं तथा॥ २४१, ४,
भगवानदास : दि साइन्स ऑफ़ सोशल ऑर्गेनाइज़ेशन, पृ ३४.

५. धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थितः। महा, आदि १००, ५.

६. धर्मो हि परमो लोके…। रामायण, अयोध्या, २१, ४१.

७. धर्मं प्रधानं पुरुषार्थानाम्। बृहस्पति सूत्र, २, ५५
दीक्षितार : हिन्दू ऐड्मिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन्स, पृ. २८ पर उद्धृत।

८. धर्मः प्रधानं पुरुषार्थात्। अर्थशास्त्र, २, ५५। द्रष्टव्य
दीक्षितार, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ. २८.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

बाद भी नष्ट हो जाता है,[१] क्योंकि धर्म उसी की रक्षा करता है जो धर्म की रक्षा (अर्थात् धर्म का पालन) करता है।[२] अतः काम या भय या लोभ से अथवा जीवन तक के लिये धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए[३] क्योंकि अधार्मिक लोगों का पतन बहुत जल्दी होता है।[४] जब कभी धर्म, अर्थ और काम के विषय में किसी प्रकार का संदेह हो तो सर्वप्रथम धर्म का अनुसरण करना चाहिये।[५]

अर्थशास्त्रीय मत

धर्म के ही समान अर्थ की महत्ता को प्रमाणित करने वाले प्रसंग भी अनेक हैं। महाभारत में युधिष्ठिर ने श्रीकृष्ण से कहा कि धन ही सबसे बड़ा धर्म है, क्योंकि धन धार्मिक कृत्यों को करने का साधन

---

१. धर्मं कृत्वा कर्मणां तात मुख्यं महाप्रताप सवितेव भाति।
हीनो हि धर्मेण महीमपीमां लब्ध्वा नरः सीदति पापबुद्धिः॥
महा, उद्योग, ७, ६.

२. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।
वही, वन, ३१३, १२८,
मनु, ८, ५ में भी यही श्लोक है।

३. न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
महा, स्वर्गारोहण, ५, ६३.

४. न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत्।
अधार्मिकाणां पापानाम् आशु पश्यन् विपर्ययम्॥ मनु, ४, १७१.

५. महा, आदि, ९२, पृ. २३० (गीता प्रेस)
धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सुपुत्रा॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥
रामायण, अयोध्या, २१, ५८-८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है।[1] सब कुछ धन पर ही आधारित है।[2] धन के अभाव में धर्म असंभव है। निर्धन व्यक्ति से लोग उसी प्रकार घृणा करते हैं, जैसे पापी से।[3] उसके सब काम उसी प्रकार नष्ट हो जाते हैं जैसे ग्रीष्म ऋतु में (छोटी) नदियाँ।[4]

बृहस्पति ने भी अर्थ की महत्ता को स्वीकार किया है। जिसके पास धन होता है, मित्र-गण, विद्याएँ तथा गुण, कर्म और बुद्धि भी उसी के पास होती हैं। जगत् धन पर ही आधारित है और निर्धन व्यक्ति मृत और चाण्डाल के समान है।[5]

कौटिल्य ने धर्म और काम को अर्थ पर आधारित माना

१. धनात्स्रवति धर्मो हि।
महा, उद्योग, ७२, २३–४.
देखिये वही, ८, १२, १७, २१–२.

२. धनमाहुः परं धर्मं धने सर्वं प्रतिष्ठितम्।
वही, उद्योग, ७२, २३.

३. वही, वन, ३३, ५.

४. अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥
वही, शान्ति, ८ १७.
प्राणयात्राऽपि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिध्यति॥
वही, शान्ति, ८, १७.

५. अर्थमर्जयेत्। यस्यार्थराशिरस्ति तस्य मित्राणि धर्मश्च विद्या च गुणकर्माणौ। च बुद्धिश्च। अधनेनाऽर्थमर्जयितुं न शक्यते गजो गजेनेव। धनमूलं जगत्। सर्वाणि तत्र सन्ति। निर्धनो मृत-चाण्डालश्च॥
वर्मा : स्टडीज़ इन हिन्दू पॉलिटिकल थॉट ऐण्ड इट्स मेटाफ़िज़िकल फाउण्डेशन्स, पृ. ५४ पर उद्धृत।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है ।[1] लेकिन, साथ-ही-साथ यह भी कहा है कि जिस धन से धर्म की वृद्धि हो, उसको अर्जित करना सबसे बड़ी सफलता है ।[2]

भर्तृहरि के अनुसार अर्थ सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसका अभाव होते ही मनुष्य का आदर समाप्त हो जाता है ।[3] धनी व्यक्ति को कुलीन, वेदों का ज्ञाता, गुणी, ज्ञानी, बोलने में अच्छा, और दर्शनीय समझा जाता है । सभी गुण स्वर्ण (धन अर्थात् धनी) का ही आश्रय लेते हैं ।[4] जिसके पास धन होता है, उसे उसके धन के कारण कोई हीन नहीं समझता और उसके विरोध में आवाज भी नहीं उठाता । शुक्र के अनुसार अर्थ से धर्म और काम की ही नहीं, मोक्ष की भी प्राप्ति होती है ।[5]

कामशास्त्रीय मत

एक बार युधिष्ठिर ने विदुर और अपने चारों भाइयों से पूछा कि कौन सा पुरुषार्थ श्रेष्ठ है, कौन सा मध्यम और कौन सा निम्नतम ।

---

१. अर्थ एव प्रधानः इति कौटिल्यः । अर्थमूलौ हि धर्मकाविति ।
अर्थशास्त्र, १, ७, १०-११.
अर्थमूलौ धर्मकामौ । वही, ८, ३, ३४-५.
हेतुरर्थसाधको हेत्वर्थः ।। अर्थमूलौ हि धर्मकामाविति ।।
वही, १५, १, १५-६ देखिये, ९, ७, ६९-७४.

२. वही, ९, अध्याय ७.

३. नीतिशतक, ३९--४०

४. यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः ।
स पण्डितः स श्रुतवान्गुणज्ञः ।।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः ।
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति ।। वही, ४२.

५. अर्थाद्धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि भवेन्नृणाम् ।
शुक्र, ४, १२८४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

विदुर ने धर्म को सर्वश्रेष्ठ, अर्थ को मध्यम तथा काम को सबसे नीचा माना और कहा कि मनुष्य को धार्मिक कृत्यों को करना तथा क्षमा, दया, तप, इंद्रिय–निग्रह तथा सत्य आदि गुणों का अभ्यास मुख्यतः करना चाहिए, क्योंकि ये धर्म के आधार हैं।[१] विदुर के बाद अर्जुन अपने विचार व्यक्त किये और अर्थ से ही धर्म और काम की प्राप्ति को संभव बताते हुए उसे सर्वश्रेष्ठ कहा।[२] नकुल और सहदेव ने भी अर्थ की ही श्रेष्ठता के पक्ष में अपनी राय दी और कहा कि अर्थोपार्जन उचित तरीके से ही करना चाहिए। अर्थ की प्राप्ति के लिये धर्म और काम की प्राप्ति के लिये अर्थ का उल्लंघन करना अनुचित है।[३] भीमसेन का मत उपर्युक्त लोगों के मतों से भिन्न था। उन्होंने काम को सर्वोपरि माना क्योंकि इच्छा से ही किसी काम को करने की प्रेरणा मिलती है। ऋषियों ने इसी के कारण तप और ध्यान किये। वेदोपनिषदों का अध्ययन भी इच्छा के कारण किया जाता है। काम उसी प्रकार धर्मार्थ का सार है, जिस प्रकार मक्खन दही का।[४] उनके अनुसार धर्म, अर्थ और काम, तीनों का समान रूप से सेवन करना चाहिए; जो किसी एक का अभ्यास करता है वह अधम है, जो किसी दो का ही करता है वह मध्यम है और जो तीनों का ही अभ्यास करता है वही श्रेष्ठ है।[५] अंत में युधिष्ठिर ने कहा कि मनुष्य को आसक्तिरहित होकर, सबको समान समझना चाहिए।[६]

---

१. महा, शांति, १६७, ५–९.
२. वही, १६७, १२–५.
३. वही, १६७, २२–७.
४. वही, १६७, २९-३१, ३४–६.
५. धर्मार्थकामाः सममेव सेव्याः यो ह्येकभक्तः स नरो जघन्यः।
तयोस्तु दाक्ष्यं प्रवदन्ति मध्यं स उत्तमो योऽभिरतस्त्रिवर्गे॥
वही, १६७, ४०.
६. वही, १६७, ४४, ४६, ४८.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि धर्म, अर्थ और काम के सम्बन्ध में सामञ्जस्य को ही सामान्यरूप से उचित और प्रशंसनीय माना गया था। अर्थ और काम का सम्बन्ध इच्छाओं से था और धर्म का पालन करते हुए उनकी प्राप्ति करना अभीष्ट था। ऐसा करने से स्वतः मोक्ष की प्राप्ति संभव थी।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

परिशिष्ट : ३

वर्ण और जाति

वर्ण-व्यवस्था से संबंधित प्रथम् अध्याय में हमने देखा था कि वर्ण और जाति में भिन्नता मिलती है, यद्यपि कभी-कभी दोनों के ही लिये caste शब्द का प्रयोग किया जाता है। वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था में कौन सी अधिक पुरानी है? दोनों में क्या अंतर है? जाति-व्यवस्था की क्या विशेषताएँ हैं? भारतीय जीवन पर इनका क्या प्रभाव रहा है? इन प्रश्नों की चर्चा हम प्रस्तुत परिशिष्ट में करेंगे।

वर्ण-व्यवस्था की प्राचीनता के विषय में हम देख चुके हैं कि पूर्व वैदिक काल में भी समाज कई वर्गों में विभक्त था। यथासंभव, ये विभाजन सुविधा की दृष्टि से किये गये थे। पुरुष सूक्त[1] में ब्राह्मण, राजन्य (क्षत्रिय), वैश्य और शूद्र को क्रमशः पुरुष का सिर, भुजा, जंघा और पैर मानना स्वयं इस संभावना की पुष्टि करता है। उस समय यह व्यवस्था कठोर नहीं थी। "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"[2] अर्थात् प्रत्येक अच्छे कार्य को करना उचित बताया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ 'आर्य' शब्द का किसी संकीर्ण अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है।

उत्तर वैदिक काल से क्रमशः इसमें कठोरता का समावेश मिलता है। उस समय कर्म को गौण माना जाने लगा और जन्म के आधार पर ही वर्ण का निश्चय करने की प्रवृत्ति स्पष्टरूपेण परिलक्षित होती है। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि ब्राह्मण की संतान को

---

१. ऋ. १०, ९०.

२. वही, ९, ६३, ५.

 CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ही ब्राह्मण कहलाने का अधिकार मिला, चाहे उसमें ब्राह्मण कहलाने के लिये आवश्यक योग्यताएँ सर्वथा अनुपस्थित ही क्यों न हों। शूद्र का पुत्र शूद्र ही समझा गया, भले ही उसमें कितनी भी योग्यताएँ क्यों न हो। विभिन्न वर्णों में ऊँच-नीच की ही नहीं, छुआछूत की भावना भी प्रचलित हुई। अंतर्वर्ण विवाह को हेय दृष्टि से देखा गया। अनुलोम (hypergamy) और प्रतिलोम विवाह (hypogamy) से उत्पन्न संतान को वर्णसंकर कहा गया। उन्हें हेय दृष्टि से देखा गया। सवर्ण माता-पिता की संतान की अपेक्षा उसका स्थान निम्न माना गया और जैसा कि हम आगे देखेंगे, कई विचारकों ने इन्हीं मिश्रित संतानों को ही जातियों की उत्पत्ति का एक कारण माना।

जाति शब्द 'प्रकट होने', 'जन्म लेने' अथवा 'उत्पन्न होने' से सम्बन्धित है। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं हैं कि जाति का एक मात्र आधार जन्म है। इसका क्षेत्र प्रारम्भिक वर्ण-व्यवस्था के क्षेत्र के समान व्यापक न होकर संकीर्ण हुआ। जातियों ने पूर्व वैदिक काल के मुक्त वर्गों (open classes) की तरह न होकर सीमित वर्ग (closed classes) का स्वरूप लिया। जन्म के अनुसार जाति निश्चित की गयी। विभिन्न जातियों के व्यवसाय निश्चित कर दिये गये, उदाहरणार्थ, लोहार जाति का एकमात्र व्यवसाय लोहे का काम करना, सुनार का सम्बन्ध स्वर्ण-कला से जोड़ना, बढ़ई जाति में उत्पन्न लोगों का कार्य लकड़ी से सम्बन्धित होना इत्यादि। इन कठोर विधानों के साथ अन्तर्जातीय विवाहों को निषिद्ध और अप्रशस्त माना गया और विभिन्न जातियों में ऊँच-नीच के साथ-साथ छुआछूत की भावना को भी स्थान दिया गया।

वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था की तुलना

वर्ण-व्यवस्था का तात्पर्य चार वर्णों से है और जाति-व्यवस्था का तात्पर्य जन्म पर ही आधारित अनेक सामाजिक वर्गों से है। इनकी

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

उत्पत्ति के अनेक कारण माने गये हैं और उनमें से वर्ण-मिश्रण को भी एक माना गया है। तात्पर्य यह है कि जातियाँ वर्ण से उत्पन्न हुई मानी जा सकती हैं।

प्राचीनता की दृष्टि से भी ऐसा संभव है। वर्ण अपेक्षाकृत अधिक पुराने हैं, पूर्व वैदिक काल में भी वर्ण-व्यवस्था के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं, यद्यपि उस समय यह व्यवस्था कदापि कठोर नहीं थी। जाति-व्यवस्था की प्राचीनता उत्तर वैदिक-काल के साथ जोड़ी जा सकती है। अतः इसका बाद का होना असंदिग्ध है।

वर्ण-व्यवस्था का आधार सभवतः कार्य-विभाजन था। इसी कारण विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओं में चारों वर्णों से तुलनीय कार्यों को करने वाले विभिन्न वर्गों के अस्तित्व के प्रमाण हैं। भारतीय जाति व्यवस्था से तुलनीय कोई भी उदाहरण अन्यत्र ज्ञात नहीं है यद्यपि अन्य देशों में भी किसी न किसी प्रकार का वर्गीकरण वर्तमान है। उदाहरण के लिए धन के आधार पर समाज को कई वर्गों का माना जा सकता है, लेकिन जन्म को इतना अधिक महत्त्व अन्यत्र कहीं भी नहीं दिया गया। धन के आधार पर विभाजित वर्गों में उथल पुथल हो सकती है और एक व्यक्ति की सामाजिक परिस्थिति में उसकी आर्थिक परिस्थिति के कारण परिवर्तन हो सकता है लेकिन वंश-परंपरागत व जन्म पर आधारित जाति में किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं है। अतः जैसा कि मैकिवर (MacIver) ने कहा, जन्मगत भेद अन्य आधारों की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर है।[1]

1. "Whereas in eastern civilizations the chief determinant of a class and status was birth, in the western civilization of to-day wealth is a classndeterminat of equal or perhaps greater importance, and wealth is a less regid determinant than birth; it is more concrete, and thus its claims are more easily challenged;

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वर्ण-व्यवस्था के आधार सांस्कृतिक माने जा सकते हैं, जैसा कि हम प्रथम अध्याय में वर्णोत्पत्ति के सिद्धांतों की चर्चा करते हुए देख चुके हैं। इसके विपरीत जातियाँ जन्म और आनुवंशिकता पर आधारित हैं और उनमें हर प्रकार की सांस्कृतिक स्वतंत्रता अनुमित नहीं हैं।

इस प्रकार जाति-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कठोर, सीमित और संकीर्ण दृष्टिकोण वाली हैं।

वर्ण-व्यवस्था आजकल अप्रचलित है, यद्यपि जातियाँ सामाजिक चेतनता और सरकार द्वारा समानता के दृष्टिकोण को कार्यान्वित करने के प्रयत्नों के बावजूद भी जीवित हैं। मृत संस्था होने के कारण वर्णों की संख्या में वृद्धि संभव नहीं है जबकि जातियों के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है।

जातियों की उत्पत्ति

जातियों की उत्पत्ति के लिए किन कारणों को उत्तरदायी माना जाय इस विषय में कई संभावनाएँ हैं। उदाहरणार्थ, व्यवसायिक उत्पत्ति जिसके अनुसार प्रारम्भ में लोगों ने अपनी इच्छा, रुचि, सुविधा और समाज की आवश्यकता के अनुसार व्यवसाय को निश्चित किया होगा और कालान्तर में इन्हें ही जाति का आधार माना गया, जैसे धोबी, चर्मकार, मल्लाह, ग्वाला इत्यादि जातियाँ। इस प्रकार इस सिद्धान्त में समाज की आवश्यकताओं के अनुसार श्रम-विभाजन को दृष्टि में रखते हुए जाति नामक वर्ग अस्तित्व में आया। लेकिन ऐसा मानने में एक उत्सुकता स्वाभाविक है। विश्व की सभी सभ्यताओं में इन विभिन्न

---

itself a matter of degree, it is less apt to concrete distinctions of kind alienable, acquirable and transferable, it draws no such permanant lines of cleavage as does birth."

घुर्ये, पूर्वोल्लिखित कृति, पृ. २.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

व्यवसायों को करने वालों का अस्तित्व निर्विवाद है, लेकिन जाति-व्यवस्था का यह रूप भारत के अतिरिक्त अन्यत्र क्यों नहीं है ?

कुछ जातियों के नामकरण को देखते हुए जातियों का सम्बन्ध भौगोलिक स्थिति के साथ भी जोड़ा जा सकता है । उदाहरणार्थ, सारस्वत ब्राह्मण । क्या ब्राह्मणों की जिस उपजाति को सारस्वत कहा गया वह सरस्वती नदी के किनारे रहती थी ? सामूहिक सुविधा का हाथ भी सम्भवतः जातियों के निर्माण में महत्त्वपूर्ण रहा होगा । लोगों ने समाज को छोटे-छोटे कई वर्गोंमें इसलिए विभक्त किया होगा जिससे उ हें मानसिक, आर्थिक और सामाजिक चिन्ताओं से मुक्ति मिल सके । आज जाति के बन्धन सामाजिक जागरण, चेतना तथा सरकार की नीति के कारण शिथिल होते जा रहे हैं, अत: एक जाति वाले भी एक दूसरे के हितों का ध्यान रखना अपना कर्तव्य नहीं समझते । संभव है कि प्रारम्भ में जाति-व्यवस्था से जाति-विशेष के लोगों को यह विश्वास रहा हो कि विवाह, भोजन, अनाथों के भरण-पोषण आदि का उत्तरदायित्व समस्त जाति पर रहा हो और इस प्रकार लोगों को मानसिक चिन्ता से मुक्ति मिलने की आशा रही हो । आर्थिक चिन्ता से मुक्ति का यह तात्पर्य है कि व्यवसाय से सम्बन्धित किसी भी प्रकार की चिन्ता का कोई कारण ही नहीं था । चाहे व्यवसाय कोई भी क्यों न हो पिता के बाद पुत्र उसे अपना सकता था ।

हम पीछे कह चुके हैं कि प्राचीन भारतीय विचारकों ने समाज के अनेक वर्णों में विभक्त होने के कारण के रूप में वर्णसंकर का उल्लेख किया है । ऐसे व्यक्तियों का गाँव से बाहर रहना उचित बताया गया है ।[1]

गौतम के अनुसार अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों के कारण सवर्ण, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद, दौष्मन्त, पराशव, सूत, मागध, आयोगव,

१. बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।
मनु, १०, ५१.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

क्षत्र, वैदेहक और चण्डाल अस्तित्व में आये।[1] वसिष्ठ ने भी अंतर्वर्ण विवाह से उत्पन्न सन्तानों को अलग संज्ञा दी है। उनके अनुसार शूद्र पिता और ब्राह्मण माता की सतान को चण्डाल, शूद्र पिता और क्षत्रिय माता की सतान को वैण, शूद्र पिता और वैश्य माता की संतान को अन्त्यावसायी कहना चाहिए।[2] रामक, पुल्कस, सूत, अम्बष्ठ, उग्र, निषाद और पराशव आदि भी इसी प्रकार असवर्ण विवाहों के परिणामस्वरूप उत्पन्न बताये गये हैं।[3] बौधायन धर्मसूत्र से भी ऐसी ही सूचना मिलती है।[4] धर्म सूत्रों के समान स्मृतियों ने भी इस विषय की ओर ध्यान दिया है। मनु के विषय में तो हम प्रथम अध्याय में देख ही चुके हैं।[5] याज्ञवल्क्य भी इसमें विश्वास करते हैं।[6]

इस सम्बन्ध में गौतम,[7] मनु[8] और याज्ञवल्क्य[9] ने जात्युत्कर्ष की और जात्यपकर्ष की भी चर्चा की है, जिसका तात्पर्य यह माना गया

---

१. अनुलोमानन्तरैकान्तरद्व्यन्तरासु ज्ञाता: सवर्णाम्बष्ठोग्रनिषाददौष्मान्तपारशवा: ।। प्रतिलोमास्तु सूतमागधायोगवक्षत्तवैदेहकचण्डाला: । गौतम, ४, १५-६ । आगे भी देखिये ।

२. शूद्रेण ब्राह्मण्यामुत्पन्नश्चाण्डालो भवतीत्याहु: ।।
राजन्यायां वैण: ।।
वैश्यायामन्त्यावसायी ।।
वसिष्ठ, १८, १-३

३. वही, १८, ४-१०

४. बौधायन, १, अध्याय ८ और ९

५. पृष्ठ ७३-७.

६. याज्ञवल्क्य, १, ९१-५.

७. गौतम, ४, १८-९.

८. मनु, १०, ६४--५.

९. याज्ञवल्क्य, १, ९६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

है कि अनुलोम और प्रतिलोक विवाहों के कारण, कुछ पीढ़ियों के बाद, जातियों की स्थिति में अन्तर आ जाता है।[1]

जाति-व्यवस्था की विशेषताएँ

जाति-प्रथा के कारण समाज का बँटवारा अनिवार्य था। इस कारण समाज में समानता और एकता की भावना का अस्तित्व कठिन था। इसके कारण समाज में कुछ वर्णों का असन्तुष्ट रहना भी स्वाभाविक ही है। जाति के कारण कुछ लोग जन्म के अनुसार ऊँचे और कुछ नीचे समझे गये। नीचे समझे जाने वालों के असंतोष की कल्पना सहज ही की जा सकती है। इसी भेद-भाव की भावना ने उच्च समझी जाने वाली जातियों को निम्न समझे जाने वाली जातियों का शोषण करने की हर सुविधा दी। यह आश्चर्य का विषय है कि शोषित और दलित जातियों ने इसका खुलकर कभी भी विरोध क्यों न किया? जाति व्यवस्था का प्रभाव राजनैतिक जीवन पर भी पड़ा। प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली के लिए यह आवश्पक है कि समस्त प्रजा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से शासकीय कार्यों में भाग ले। लेकिन भारतवर्ष की कठोरता वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के कारण राज्य-व्यवस्था और न्याय-व्यवस्था की दृष्टि में भी जातिगत भेद-भाव वर्तमान थे। इसी कारण मौलिक अधिकारों में भी समानता संभव न हो सकी। धार्मिक जीवन पर भी इनका प्रभाव अनुचित प्रकार से पड़ा। सामान्य रूप से शूद्रों और निम्न जातियों को धार्मिक कृत्यों में भाग लेने के अधिकार से वंचित रक्खा गया,[2] यद्यपि कहीं-कहीं सभी वर्णों को, सभी

---

१. विस्तृत विवरण के लिए देखिये, काणे : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, भाग २, पृ. ६१--६.

२. ब्राह्मणः क्षत्रियाः वैश्याः शूद्राश्चान्येऽथवा प्रिये।
सर्वे ते समधर्माणः शिवधर्मे नियोजिताः ॥
स्वच्छन्दतन्त्रम्, ४, ५४०। देखिये ४, ४१३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जातियों को[१], और यहाँ तक कि नपुंसकों और स्त्रियों को भी समान माना गया है।[२]

जाति के कारण सामाजिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। आहार और विवाह से सम्बन्धित प्रतिबन्ध इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं। भोजन के विषय में कच्ची रसोई और पक्की रसोई का भेद किया गया है और कच्चे खाने के विषय में तो और भी अधिक ध्यान रखा जाता है कि वह किसी निम्नजातीय व्यक्ति द्वारा बनाया अथवा छुआ हुआ न हो। यह भेद-भाव उत्तर और दक्षिण भारत दोनों में समान रूप से प्रचलित है।[३] विवाह के मामले में भी यही बात दृष्टिगत होती है और ब्राह्मण को सर्वदा सर्वश्रेष्ठ माना गया है।[४]

संक्षेप में जाति-व्यवस्था भारत की विशेषता है जब कि वर्ण से तुलनीय वर्गीकरण के अनेक उदाहरण अन्यत्र भी प्राप्त हैं।

वर्ण-व्यवस्था और जाति-व्यवस्था के चाहे जो कुछ भी गुण और दोष हों, भारतवर्ष की सांस्कृतिक परम्परा को सुरक्षित रखने का श्रेय इन्हें ही है। उदाहरण के लिए, प्राचीनतम साहित्यिक कृति वेद का आज भी उसी रूप में वर्तमान रहना इस कारण संभव हो सका कि

---

१. जातिभेदो न चक्रेऽस्मिन् सर्वे शिवसमाः स्मृताः।
कुलार्णव, ८, १०१.

२. उक्तं ज्ञानोत्तरे चैतद्ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥
नपुंसकाः स्त्रियः शूद्रा ये चान्येऽपि तदर्थिनः।
ते दीक्षायां न मीमांस्यां ज्ञानकाले विचारयेत्॥
तंत्रालोक, २३.

३. घुर्ये : कास्ट क्लास ऐण्ड आक्युपेशन, पृ. ६७.

४. "for a Brahman most others are Shudras, irrespective of high or low status."
Ibid, Page 90.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

इनके पठन-पाठन के लिए केवल उन्हीं को अधिकारी माना गया जो इनका अध्ययन सूक्ष्मता और गंभीरता के साथ कर सकें और शुद्धता के साथ उच्चारण कर सकें। भारतवर्ष के राजनैतिक इतिहास के विभिन्न कालों में तरह तरहकी विघ्न बाधाएँ और परिस्थितियां आईं लेकिन वे झंझावात भी सामाजिक व्यवस्था को झकझोरने में सफल न हो सके और इसी के सत्परिणाम के रूपमें भारतीय संस्कृति की धारा अबाधित गतिसे प्रवाहित होती रही।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सहायक ग्रंथ-सूची

अथर्ववेद : संपादक, श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, औंध, (जि. सतारा), १९२९..

: ग्रिफ़िथ द्वारा अंग्रेजी में अनूदित, द्वितीय संस्करण, बनारस, १९१७.

अमरकोष : तुकाराम जावजी, बम्बई, १८९७.

अर्थशास्त्र : संपादक शामाशास्त्री, मैसूर, १९१९.

: अंग्रेजी अनुवाद, शामाशास्त्री द्वारा, मैसूर, १९५६.

आपस्तंब धर्मसूत्र : संपादक चिन्नस्वामी शास्त्री, बनारस, १९३२.

आप्टे : स्टूडेण्ट्स संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, १९५९.

आल्टेकर, ए. एस. : एजुकेशन इन एंशण्ट इण्डिया, नंदकिशोर ऐण्ड ब्रदर्स, वाराणसी, १९५१.

: पोज़ीशन ऑफ़ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइज़ेशन, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९५६.

आश्रमोपनिषद् : स्क्रेडर द्वारा संपादित, दि माइनर उपनिषद्स भाग १, अडयार लायब्रेरी, मद्रास, १९१२.

उपाध्याय, बलदेव : संस्कृत साहित्य का इतिहास, शारदा मंदिर वाराणसी, १९५३.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

ऋग्वेद : संपादक वसंत श्रीपाद सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, १९४०.
: ग्रिफ़िथ कृत अंग्रेजी अनुवाद (दो भागों में) चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ आफ़िस, बनारस, १९६३.

काणे, पी. वी. : हिस्ट्री ऑफ़ धर्मशास्त्र, भाग १ और २, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्चइन्स्टिट्यूट, पूना, १९४१.

कामन्दक नीतिसार : संपादक ज्वाला प्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्ण दास, बम्बई, वि. स. २००९.

कुमारसंभवम् : संपादक एस. आर. सहगल, नवयुग पब्लिकेशन्स, जलंधर, १९५९.

खाँ, बेंजामिन : दि कन्सेप्ट ऑफ़ धर्म इन वाल्मीकि रामायण, मुंशीराम मनोहरलाल, देहली, १९६५.

गौतम धर्मसूत्र : संपादक हरिनारायण आप्टे, आनंदाश्रम मुद्रणालय, बम्बई, १९१०.

घुर्ये, जी. एस. : कास्ट, क्लास ऐण्ड औक्यूपेशन, पौप्यूलर बुक डिपो, बम्बई.

चतुर्वेदी, परशुराम : बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद, १९५८.

छान्दोग्योपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् १९९४.

जातक : हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग.

जाबालोपनिषद् : स्क्रेडर द्वारा संपादित, दि माइनर उपनिषद्स, अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

जौहरी, मनोरमा : पॉलिटिक्स ऐण्ड एथिक्स इन एंशंट इण्डिया, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६८.

झा, गंगानाथ : नोट्स ऑन मानव धर्मशास्त्र, विश्वनाथ नारायण मंडलिक, बम्बई, १८८६.

ठाकुर, लक्ष्मीदत्त प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६५.

तिलक, बालगंगाधर : श्री भगवद्गीतारहस्य (बी. एस. सुक्थंकर द्वारा अंग्रेजी अनुवाद) दो भागों में, पूना, १९३५–६.

तैत्तिरीय उपनिषद् : आनन्दाश्रम मुद्रणालय, बम्बई, १९२२.

दीक्षितार, वी.आर.आर. : हिन्दू ऐड्मिनिस्ट्रेटिव इन्स्टिट्यूशन्स, युनिवर्सिटी ऑफ़ मद्रास, १९२९.

दूबे, सत्यमित्र : मनु की समाज व्यवस्था, किताब महल, इलाहाबाद १९६४.

देवराज, एन. के : भारतीय संस्कृति (महाकाव्यों के आलोक में), प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, १९६१.

नारदपरिव्राजकोपनिषद् : स्क्रेडर द्वारा संपादित दि माइनर उपनिषद्स, अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, १९१२.

नीतिशतक (भर्तृहरि कृत): संपादक एच. डी. वैद्य, मथुरा, १९४१.

प्रभु, पी. एन. : हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइज़ेशन, पॉप्यूलर बुक डिपो, बम्बई, १९५४.

पार्जीटर, एफ़ . ई० : एंशण्ट इण्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६२.

बैशम, ए. एल. : दि वण्डर दैट वॉज़ इण्डिया,

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

: ओरिएण्ट लौंगमैन्स लिमिटेड, बम्बई, १९६३.

बौधायन धर्मसूत्र : संपादक चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्भा संस्कृत सिरीज़ ऑफ़िस, बनारस, १९३४.

बृहदारण्यक उपनिषद् : गीता प्रेस, गोरखपुर, वि. सं २०१२.

भगवान दास : दी साइन्स ऑफ़ सोशल ऑर्गनाइज़ेशन, मद्रास, १९१०.

भट्टाचार्य, सुखमय : महाभारतकालीन समाज, हिन्दी अनुवाद—पुष्पा जैन, लोक भारती प्रकाशन,-इलाहाबाद, १९६६

भागवत पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर.

भुवालकर : महाभारत में स्त्रियाँ, नारी अभिनव साहित्य प्रकाशन, सागर, वि. सं. २०२१.

मजुमदार, डी. एन. : रेसेज़ ऐण्ड कल्चर्स ऑफ़ इण्डिया.
: एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, १९६१.

मजुमदार और पुसाल्कर : संपादक, दि वेदिक एज, जॉर्ज एलेन एण्ड आन्विन, लंदन, १९५१.

मनुस्मृति : संपादक हर गोविन्द शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सिरीज़ ऑफ़िस, बनारस, १९६ .

महाभारत : (हिन्दी अनुवाद सहित), गीता प्रेस, गोरखपुर, १९५६-९.
: क्रिटिकल एडिशन, भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना, १९३३ और आगे.
: नीलकण्ठ की भारतभावदीपिका सहित, ६ भागों में, चित्रशाला प्रेस, पूना, १९२९-३३. इसी संस्करण के उल्लेख पुस्तक में हैं। गीता प्रेस या क्रिटिकल एडिशन के उद्धत होने पर उसे स्पष्ट कर दिया गया है।

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

महावग्ग : सम्पादक भिक्षु जगदीश कश्यप, पाली पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार गवर्नमेण्ट, १९५६.

मिश्र, विद्या : वाल्मीकि रामायण एवं रामचरितमानस का तुलनात्मक अध्ययन, विश्वविद्यालय हिन्दी प्रकाशन, लखनऊ विश्वविद्यालय, १९६३.

मिश्र, जयशंकर : ग्यारहवीं सदी का भारत, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, १९६८.

मित्र, वेद : इण्डिया ऑफ़ धर्मशास्त्र, आर्य बुक डिपो, दिल्ली, १९६५.

मीज़, जी. एच. : धर्म ऐण्ड सोसाइटी, ल्यूज़ेक ऐण्ड कम्पनी, लन्दन, १९३५.

मैकेन्जी, जे. एस. : हिन्दू एथिक्स, ऑक्सफ़ोर्ड, १९२२.

मैक्सम्यूलर : मैक्सम्यूलर द्वारा संपादित सेक्रेड बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट, भाग, १३, क्लैरेण्डन प्रेस, ऑक्सफ़ोर्ड.

मोदी, पी. एम. ; नोट्स ऑन दि सिस्टम ऑफ़ फ़ोर ऑर्डर्स ऑफ़ लाइफ़, ऑल इण्डिया ओरिएण्टल कौन्फ़रेन्स, बड़ौदा, १९३३.

मोनियर विलियम्स : ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, क्लैरेण्डन प्रेस ऑक्सफ़ोर्ड, १८९९.

यजुर्वेद भाष्य : दयानंद, अजमेर.

याज्ञवल्क्य स्मृति : संपादक नारायण राम आचार्य, निर्णय सागर मुद्रणालय, बम्बई, १९४९.

रामायण : गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२०.

राधाकृष्णन, एस. : इण्डियन फ़िलॉसाफी, २ भागों में, जॉर्ज

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

एलेन ऐण्ड अन्विन लिमिटेड, लन्दन, १९२९, १९३१.

राय चौधरी, एच. सी. : पौलिटिकल हिस्ट्री ऑफ़ एंशण्ट इण्डिया, युनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता, १९५३.

वर्मा, वी. पी. : स्टडीज़ इन हिन्दू पौलिटिकल थॉट ऐण्ड इट्स मेटाफ़िजिकल फाउण्डेशन्स, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी.

व्यास, एस. एन. इण्डिया इन दि रामायण एज, आत्माराम ऐण्ड संस, देहली, १९६७.

वसिष्ठ धर्मशास्त्र : संपादक ए. ए. फ्यूहरर, गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९१६.

वाचस्पत्यम् : (तारानाथ का), चौखंभा संस्कृत सिरीज़ ऑफ़िस, वाराणसी, १९६२.

वायु पुराण : संपादक राजेन्द्र लाल मिश्र, कलकत्ता, सं. १९७७.

विष्णु पुराण : गीता प्रेस, गोरखपुर.

शुक्रनीतिसार : संपादक मिहिरचन्द्र, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, संवत् २०१२.

श्रीवास्तव, सरल : ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ वर्णाश्रम सिस्टम (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का एक अप्रकाशित शोध प्रबंध), १९६३.

संयुत्तनिकाय : संपादक भिक्षु जगदीश काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५४.

सामवेद : ग्रिफ़िथ कृत अंग्रेजी अनुवाद, बनारस, १९२६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सामवेद : स्वाध्याय मण्डल, पारडी, जिला-सूरत, १९५८.

सिद्धांतालंकार, सत्यव्रत : भारत की जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ, विजय कृष्ण लखनपाल ऐण्ड कं., देहरादून, १९६०.

सुक्थंकर, वी. एस. : ऑन दि मीनिंग आफ़ दि महाभारत, दि एशियाटिक सोसायटी ऑफ़ बॉम्बे, बम्बई, १९५७.

हॉप्किन्स, ई. डब्ल्यू. : एथिक्स ऑफ़ इण्डिया, न्यू हैवेन, १९२४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

अनुक्रमणिका

अगस्त्य—८७,१२२,१६९.
अग्नि—१०३.
अग्निहोत्र—१५४,१५६.
अंगिरस—१९,१३५-६.
अजातशत्रु—४२.
अतिथि-यज्ञ—१४७.
अथर्ववेद—२०–२१,१०६,१६३.
अंधक—७७.
अन्ध्र—७६.
अनुसूया—१२१.
अनार्य—२, ८.
अनिच्चसुत्त—११४.
अनुलोम (विवाह)७१–२.
१९८, २००,
अपच्चमानक—१५२.
अमरकोष—८७,१२९,१४१,१५१,
१८४.
अमेरिकन—१५.
अमात्य—११४.
अम्बष्ठ—७५,१९८–९.
अर्जुन—५०, ५१, ७२, ७७–८,
१८४,१९२.
अर्थ—९५–६, ९८–१०१, १४३,
१५०,१७१,१८३, १८५–९,
१९१–३.
अर्थशास्त्र—५३,५७,१३४, १४४,
१५४,१६०,१८८.
अरविन्द—९९.
अरब—१६१.
अलबीरूनी—१३९,१५७,१६२.
अवीक्षित—४२.
अश्वस्तन—१४५.
अश्वस्तनिक—१४६.
अश्वपति—२७,४२.
अश्वत्थामा—१०,५९.
अशोक—८१.
असंग—१९.
असदिसजातक—११२.
अत्रि—१२१–२,१६९.
आपद्धर्म—३२,३४,८२,१७८,१८१.
आभीर—७५.
आदित्य—१२.
आदित्त सुत्त—११४.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

आपस्तंब—३६, ९८, ११६, १३१, १७२.

आप्टे—६८, ८७.

आयोगव—७५, १९८.

आल्टेकर—१३९–४०, १६३, १६६.

आर्य—८, ९.

आर्यन—२.

आर्ष—७१, ७८.

आरुणेय—४२.

आनन्त्य—७६.

आवृत—७५.

आश्रम उपनिषद्—१०९.

आश्रम और पुरुषार्थ—९८, १०२.

आश्रम और वर्ण—१६७–७०.

आश्रम और स्त्रियाँ—१६२–७.

आश्रमों का क्रम—९२–८.

आश्रमों की प्राचीनता—८८–९०.

आश्रमों की संख्या—९०–९२.

आश्रम-धर्म—३५, १७१, १२९–६२, १७८.

आश्रम-व्यवस्था—८७–१७०.

आश्रम-विकल्प—९२, १११, १५१, १६४.

आश्रम, विभिन्न कालों में—१०२-१२९.

आश्रम-समुच्चय—९२, ९४–५, १११, १५१.

आसुर—७१, ७८.

आहिण्डक—७६.

इण्डियन—२.

इण्डिया—५, ४२, ६०, ८२, ८६.

इण्डोआर्यन—१५.

इन्द्र—८, १२, १९, ९४, १०१, १०४, १०९.

इस्लाम-धर्म—१७१.

इशान—१२.

ईसाई धर्म—१७१.

उग्र—१९८–९.

उत्तराध्ययन सूत्र—११५.

उपनयन-संस्कार—७७, १२७, १३०—३१.

उद्दालक—८७.

उपकुर्वाण—१३८.

उपाध्याया—१६३.

उपाध्यायानी—१६३.

उल्कामुख—५२.

एकलव्य—७७, ७९, ८५.

ऐतेरेय ब्राह्मण—२२–४, ८९, १०७–८.

एथेंस—१५.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

औदुम्बर—१०९.

ऋग्वेद—१,३,८,९, १७–९,१०४, १३९,१६६,१९४.
ऋग्वैदिक काल—२.
ऋषि—१४६.
ऋषि-यज्ञ—१४६.
ऋणत्रय (त्रिऋण)—१४७.
ऋषि-ऋण—१४८-५०.

कटपूतन—५२.
कट्टाहरिजातक—२८.
कठोपनिषद्—११०.
कण्व—१९.
कदम्ब—६१.
कपिल—८९.
कपोतीमाश्रित—१४५.
करण—७६.
कलि-धर्म—१८१.
कवश ऐलुश—२४.
कवि—११.
कक्षिवान्—१९.
काणे—१७-८, ६२, ७१-२, ८५, ८९-९१, १०४, १०८, १२६, १४७, १७६, २००.
कानीन—८१.
काम—९५-६, ९८-१०१, १४३, १५०, १७१, १८३, १८५-९, १९१-३.
कामंदक—१२९, १३८, १४४, १४६, १५६, १६१, १८८.
काम्बोज—७७.
कारावर—७६.
कारुष—७६.
कालिदास—८३.
किरात—७७.
कुक्कुटक—७५.
कुटीचर—१०९.
कुणिगर्ग—१६४.
कुंती—८१.
कुंभधान्य—१४५.
कुंभधान्यक—१४५.
कुरुक्षेत्र—४९.
कुल-धर्म—१७१.
कुलार्णव—२०१
कुल्लुक—६५-६, ६८-९, १७८.
कुसूलधान्य—१४४.
कुसूलधान्यक—१४५.
कैवर्त—७६.
कौटिल्य—५१, ५३, ५७, १३४, १४३, १५४, १६०, १८८, १९०.
कौरव—४९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कौशिक—२४.
कौशितकी ब्राह्मण—२४.
कौशिक गृह्यसूत्र—३०-१.
कृपाचार्य—१०.

खश—७६-७.
खारवेल—८३.
खोह—८३.
गय—४२.
गाधि—१६९.
गांधर्व—७१, ७८.
गान्धारी—१६५.
गायत्री—१०९.
गायत्री-मंत्र—५, २२-३.
गार्ग्य—११.
ग्रिफ़िथ—१, १०२.
गीता—६, ७, ५१, ७२, १४८-९.
गुण-धर्म—१७८, १८०.
गौतम—२५, २९, ३१, ३६, ३९, ४०, ५८, ७१, ८०, ९६, १०८, ११६, १३०-२, १४१, १४८, १५१, १५८-९, १६७, १७२, १७७, १७९, १८२, १९८-९.
गौतम बुद्ध—२६, ११२, ११५, ११६, ११८.
गुल्कस—१९९.
घुर्ये—१८, ८५, १९७, २०१.
घोर सन्यासिक—१०९.

चण्डाल—२६, ७५, १९९.
चतुर्वर्ग—९८.
चमार—१०.
चर्मकार—७६.
चीन—७७.
चौड़—७७.

छान्दोग्योपनिषद्—८, २४-५, ४२, ९०, ९२, ९४, ११०.

जनक—४२.
जात्यपकर्ष—१९९.
जात्युत्कर्ष—१९९.
जानश्रुतिपौत्रायन—२४.
जाबालोपनिषद्—९३, ९५.
जूनागढ़—८३.
जैन—११५.
जैनधर्म—१८१.
जैवालि—४२.
जौहरी—३२, ४२-३.

झल्ल—७६.

ठाकुर—१२८, १३८.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

त्वष्टा—१०६-७.
तम—६-७,९,३५.
तंत्रालोक—२०१.
तक्षशिला—१४०.
ताम्रपत्र—८३.
तारानाथ—८७.
तिलमुट्ठी जातक—११२-४,१४०.
तैत्तिरीय आरण्यक—१४७.
तैत्तिरीय ब्राह्मण—२३-४.
तैत्तिरीय संहिता—२२-३.
तैत्तिरीय उपनिषद्—११०.

दरद—७७.
दर्भदेवता—२१.
द्रविण—२,७६—७.
दरीमुख जातक—११२,११५.
दशरथ—३२-३.
दस्यु—८,७६.
द्वापरयुग—६९.
द्वारिका—७७.
दास—८,९,७६.
दीघनिकाय—११५.
दीक्षितार—९८,१८४,१८८.
दुरतिक्षय—११.
दुष्यन्त—१९.
देव-ऋण—१४८-५०.
देव-यज्ञ—१४७,१४९.
देवयानी—१९.
देवापि—११.
देश-धर्म—१७१.

दैव (प्रशस्त विवाह का एक प्रकार)—७१, ७८.
द्रोणाचार्य—१०, ५९, ८०.
दौष्मन्त—१९८.

धर्म—९५, ९८, १००—१, १४३, १७१—८३, १८५-७,१८९, १९१—३.
धर्म के स्रोत—१७३-७.
धर्म का वर्गीकरण—१७७-८१.
धर्मव्याध—५४.
धृतराष्ट्र—४४,४६,१६५.
धिग्वण—७५.

न्यासी—१५८.
नकुल—९६-७,१९२.
नचिकेता—११०-१.
नट—७६.
नाभाग—११.
नारद—१६४.
नासिक—८३.
निच्छवि—७६.
नियम—१६०.
निषाद—७६, १९८-९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

नीतिशतक—१३९,१९१.
नीलकण्ठ—३६, ३८, ५६, ६६, १२६, १४४, १४६, १५९, १६०.
नैमित्तिक धर्म—३५, १७८,१८०.
नैष्ठिक ब्रह्मचारी—१३४, १३८.
नृ-यज्ञ—१४६-७.

पचमानक—१५२.
पंचमहायज्ञ—१४६–८.
पर्जन्य—१२.
परमहंस—१०९.
परशुराम—१०.
परशुराम चतुर्वेदी—२६.
पर्शिया—१५.
पराशव—१९८–९.
पवमान सूक्त—१०३.
पुक्कस—२६.
परिव्राट—१५८.
प्रभु—६,८,१५-६,१९,२३,७१, ९१, ९३.
प्रजापति—२२,१०९,१४८.
प्राजापत्य—७१,७८,१०९.
प्रतिलोम (विवाह)—७१-१७२, १९८, २००.
प्रह्लाद—८९.
प्रवाहण—२५, ४२.
पाञ्चाल—२५.
पाणिनी—२४.
पाण्डेय, राजबली—९२.
पाण्डु सोपाक—७६.
पाण्डव—४९.
पारद—७७.
पारशव—७५.
परिव्राजक—१११, १५८.
पार्जिटर—२.
पितृ-यज्ञ—१४६-७.
पितृ-ऋण—१४८-५०.
पुराण—१२९.
पुरुषार्थ—९६, ९८, १००,१२८, १५०, १६६, १८३-९३.
पुरुषार्थ और स्त्रियाँ—१६६–७.
पुरूरवा—४.
पुरुष—३, ३६.
पुरुष सूक्त—१८,१९४.
पुलुमावि—८३.
पुष्करारुणि—११.
पुष्यमित्र शुङ्ग—५९-६०.
पैजवन—४८.
पैशाच—७१, ७८.
पंचमहायज्ञ—१२४, १२८, १४१, १४७, १४९.
पंचविंश ब्राह्मण—२३-४.
पृषध—११.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

फेनप—१०९.

बलदेव उपाध्याय—२०, २४, २९.
बहूदक—१०९.
ब्रह्मा—३-४, ७, १२, ३७, ४१, ४४-५, ४७, ८९, ९१.
ब्रह्मदत्त—२७, ११२-३, ११५.
ब्रह्म-यज्ञ—१४०, १४६-७, १४९.
ब्रह्मवादिनी—१६३.
बाघ—९३, ९६, १४१.
ब्राह्म—७१, ७८, १०९.
ब्राह्मण—८९,
बालाकिगार्ग्य—४२.
बालगंगाधर तिलक—१७५.
बार्हस्पत्य—१८८.
विद्यास्नातक—१२०.
विद्याव्रत स्नातक—१२०.
बुद्ध—२४, ११४.
बेञ्जामिन खाँ—१२१-२, १७७.
बेबीलोन—१५.
बैशम—८६.
बोधिसत्व—२७-८, ११२.
बौद्ध-साहित्य—२८, ११४.
बौद्ध-धर्म—१७१.
बौधायन—३२, ३७, ४५, ५८, ६१-२, ७८-९, ८९, ९३, ९७, ११६, १३१-२, १४३, १४८, १५१, १५८, १९९.
बृहद्—१०९.
ब्रह्म—११, २१, २६, ३९, १२३.
बृहस्पति—१७, ७२, १९०.
बृहदारण्यकोपनिषद्—११-२, २४, ४२, ११०.
बृहद्रथ—६१.

भगवानदास—१७५, १८३.
भगवद्गीता—३७, ३९, ७२.
भद्दसाल-जातक—२८.
भर्तृहरि—१९१.
भरद्वाज—१२३.
भागवत-पुराण—११.
भारतभाव-दीपिका—५६.
भारतवर्ष—६०, १६१, २००.
भारतीय—२०, ५५, ७१, ८१, ८४-५, ९५, ९८.
भारद्वाज—३६.
भिक्षु—१५८.
भीम—१८६, १९२.
भीष्म पितामह—३७, ४०, ४३-४, ५०, ५६, ५९, १५०, १५३, १७३, १८१, १८५.
भुवालकर—१६४.
भूर्जकण्टक—७६.
भूत-यज्ञ—१४६.
भोज—७७.

Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

भृगु—२६, १२३, १५९.

मगध—१८४.

मजुमदार—५.

मत्स्यपुराण—४२, १८८.

मनु—४१, ४३, ४८, ५२-३, ५८, ६०, ६४, ६६-८, ७३, ८१, ८४, ९१, ९५, १०१, १०८, १२६, १२८-३०, १३४-७, १४१-३, १५५, १५७, १६०-६१, १६३-४, १६६, १६८, १७८, १८१-२, १८६, १८९, १९९.

मनुष्य-यज्ञ—१४७.

मनुस्मृति—३९, ४५, ४७, ६१, ६७, ७४, ७९, ९०, ९२, १५६, १७३, १८६.

मरुत्—१२.

मल्ल—७६.

महापद्मनंद—६०.

महाभिनिष्क्रमण—११५.

महाभिष—४२.

महावग्ग—२६, ११२.

महेश्वर—१३.

मागध—७५, १९८.

माणवक—२८.

मातरिश्वा—४, १३.

मातंग-जातक—२८.

मार्गव—७६.

मिगजाल सुत्त—११४.

मिताक्षरा टीका—२९, ९८, १४५, १५१, १६७.

मिथिला—५४.

मिस्री—१५.

मिश्र—१२९, १३९, १५३, १५७, १६२.

मीज़—१२६, १७६.

मुद्गलानी—१६६.

मुद्राराक्षस—९८.

मेद—७६.

मेधातिथि—६५, ६८.

मैकिवर—१९६.

मैकेञ्जी—१७५.

मैत्र—७६.

मैत्रेय—७.

मैत्रेयक—७६.

मोदी—९०.

मोनियर विलियम्स—१.

मौर्य—५९, ६१.

मृत्यु—१२.

यजुर्वेद—२०-२१, १०५.

यम—१२, १११, १६०.

ययाति—४२.

यायावर—१०९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

यवन—७७.
यज्ञ—१७४.
याज्ञवल्क्य—५९, ६३-४, १२७, १२८, १३४, १४५, १५६, १६१, १७३, १७८, १९९.
युग-धर्म—३५, १७८, १८१.
युधिष्ठिर—३७, ४२, ४४, ५६, ५९, ८२, ९७, १५०, १७४, १७६, १८१, १८९, १९१-२.
युयुत्स—५९.

रघुवंश—१.
रज—६-७, ९, ३५.
रथवीति—१९.
राजगृह—११५.
राजसिक—७.
राजोवाद जातक—११२.
राधाकृष्णन्—१७६.
रानाडे—९०-९१.
राम—१२१.
रामचन्द्र—१८४.
रामचरितमानस—१५३.
रामायण—३३, ८२, ८७, १२०, १४८, १५२-१५३, १७७, १८४, १८८, १८९.
रावण—१२२.
रायचौधरी—६०.
राक्षस—७१, ७८.
रुद्र—१२.
रुद्रदामन—८३.
रेणुका—१६५.
रैक्व—२५.

लाभगरह जातक—११२.
लोहार—१०.

वत्स—२४.
वर्मा—१९,१९०.
वर्ण-व्यवस्था—१-८६.
वर्ण और जाति—७३-७, १९४-२०२.
वर्ण और न्याय-व्यवस्था—८०-८१.
वर्ण और राजनीति—८१—३.
वर्ण और सामाजिक जीवन—७७-८०.
वर्णों की उत्पत्ति के सिद्धांत—३-१६.
वर्णों के आपद्धर्म—५५-७१.
वर्ण तथा धार्मिक और-आर्थिक जीवन—८३-६.
वर्ण-धर्म—३५—५५.
वर्ण-व्यवस्था की प्राचीनता—२.
वर्ण, विभिन्न कालों में—१६-३५.
वर्णों से जाति की उत्पत्ति—७३—७.
वर्ण संकर—७१-३.
वरुण—१२.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

वसिष्ठ—३०, ३१, ३३, ३७, ५८, ६६, ९५, ९७, ११६-८, १३०-३२, १४१, १४३, १४९, १५२, १५८-९, १७२, १९९.
वसन्तऋतु—२३.
वसु—१२.
व्रतस्नातक—१२०, १३५.
वाचस्पत्यम्—८७.
वाजश्रवस—११०.
वाटधान—७६.
वायु पुराण—४, ८.
वार्ड—१५.
वार्तीकवृत्ति—१०९.
व्रात्य—७५.
वाराणसी—११३, १४०.
वालखिल्य—१०९.
वाल्मीकि—३२, १२१-२, १५३, १७७.
विजन्मा—७५.
विदुर—४४, ४६, ५६, १९१-२.
विधुर जातक—२९.
विधुर पंडित—२८.
विनयपिटक—२७.
विराट पुरुष—३, ३६, ४३.
विरोचन—१०९.
विशेष धर्म—१८१.
विश्वामित्र—३३, ६९.
विश्वेदेव—१२.
विशिष्ट धर्म—१७८.
विष्णुपुराण—४, ७, ६०, १५८, १८६, १८७.
वीतहव्य—११.
वेदव्रतस्नातक—१३५.
वेण—७५.
वैखानस—१०९.
वैण—१९९.
वैदह—७५.
वैदेहक—१९९.
वैदिक—२०, १३०.
वैशेषिक सूत्र—१७६.
वैष्णव धर्म—१७१.
वृष्णि—७७.

शक—७७.
शकुन्तला—१९.
शंख—१६७.
शतपथ ब्राह्मण—२२-३, ४२, १४७.
शब्दकल्पद्रुम—१, ८७.
शरद—२३.
शर्याति—११.
श्वपाक—७५.
शाक्य—२८, ११५.
शांकर भाष्य—२५, १०९.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शाकुंतलम्—८३.
शालीनवृत्ति—१०९.
शुक—४२,५३;५८,१२९,१९१.
शुंग वश—६१.
शुद्धोधन—११५.
श्वेतकेतु—२५,४२,८८,१०९.
शैख—७६.
श्रीकृष्ण—६-७,४४, ४७,५०-५१,
७२,७७,१७१,१८४,१८९.
श्रीवास्तव, सरल—१०५,११५.
श्रौत धर्म—१७७.
सतधम्म जातक—२८.
सत्यकाम—११०.
सत्व—६-७, ९, ३५.
सदाचीर्ण-धर्म—१७७.
सद्योद्वाहा—१६३.
स्मार्त-धर्म—१७७.
समावर्तन-संस्कार—१४१.
सरकार, डी. सी.—८३.
सवर्ण—१९८.
स्वच्छन्दतन्त्रम्—२००.
स्वर्णकार—१०.
स्वधर्म—१३, ४८-९.
स्वनय—१९.
स्वयंवर—७१.
सहदेव—१९२.
सात्त्विक—७.
स्नातक—१००, १२०, १२८,
१३५, १४०.
सामवेद—२०, १०५.
सामान्य धर्म—१७७, १८१.
सारस्वत—१९७.
सावित्री—७६.
स्यावाश्व—१९.
सिद्धार्थ—११५.
सिन्धुद्वीप—११.
स्मृति—१४४.
सीता—१२१-२, १६५.
सीलविमंस—२७.
सुकन्या—१६५.
सुक्थंकर—३२.
सुजाता-जातक—२८.
सुधन्वाचार्य—७६.
सुभ्रू—१६४.
सुभद्रा-हरण—७७.
सुमेर—१५.
सुलभा—१६६.
सुलेमान—१६१.
सुहोत्र—४२.
सूत—७५,१९८-९.
सूर्या—१०३.
सेन—२.
स्लेटर—२.
सैरिन्ध्र—७६.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

सोपाक—७६.
सोम—१२, ४२.
संयुक्त निकाय—११४.
सृञ्जय—४२

हटन—२.
हनुमान—१८१.
हरदत्त—११६, १६७, १७७-८.
हाथीगुम्फा—८३.
हॉप्किन्स—१७५.
हिमालय—११५.
हिन्दू—९३, ९८.

हंस—१०९.

क्षत्ता—७५.
क्षत्र—१९९.

त्र्यह्निक—१४६.
त्रिदण्ड—१६०.
त्रिवर्ग—९८, १५०, १८३, १८५, १८७.
त्रिष्टुभ्—२२.
त्रिऋण (ऋणत्रय)—९५, १००, १२०, १४१, १४८-५०.
त्रेता युग—६९.
त्रैण्यारुणि—११.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	स्थान		अशुद्ध	शुद्ध
२—	पाद टिप्पणि	१—	एलिमेन्टस—	एलिमेण्ट्स.
४—	पाद टिप्पणि	३—	वैश्याचोरोर्य्यस्य—	वैश्याश्चोरोर्य्यस्य.
८—	पंक्ति	१४—	को—	की.
८—	पंक्ति	१६—	अनिद्र—	अनिन्द्र.
१३—	पाद टिप्पणि	२—	गोम्यो—	गोभ्यो.
१३—	पाद टिप्पणि	३—	कर्मभिर्व्यस्ता—	कर्मभिर्व्यस्ता.
१३—	पाद टिप्पणि	३—	ब्राह्मनुशासनम्—	ब्रह्मानुशासनम्.
१६—	पंक्ति	१९—	अंतवर्ण—	अंतर्वर्ण.
२५—	पादटिप्पणि	३—	रजा—	राजा.
२८—	पंक्ति	६—	ओर—	और.
३८—	पाद टिप्पणि	१—	नवते—	नवैते
४०—	पाद टिप्पणि	३—	दानादानरतियस्तु—	दानादानरतिर्यस्तु
४३—	पाद टिप्पणि	२—	धर्म—	धर्मं.
४५—	पंक्ति	५—	क—	एक.
४५—	पाद टिप्पणि	—	कृषिवाणिज्य—	कृषिर्वाणिज्य.
४६—	पाद टिप्पणि	१—	निवतन्ते—	निवर्तन्ते.
५१—	पाद टिप्पणि	१—	सर्वारम्भ—	सर्वारम्भा.
६२—	पाद टिप्पणि	१—	उभाभ्थाम्—	उभाभ्याम्.
७०—	पाद टिप्पणि	२—	परिक्षार्थं—	परिरक्षार्थं.
७८—	पंक्ति	४—	देव—	दैव.
८३—	पंक्ति	११—	का—	की.

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

९१—पाद टिप्पणि	३—	छोन्दोग्य—	छान्दोग्य.
९१—पंक्ति	१३—	हो	ही.
९१—पाद टिप्पणि	३—	hou eholder–	house-holder.
९२—पंक्ति	१०—	इसे—	इससे
९३—पाद टिप्पणि	३—	हुतोहोमो—	हुतहोमो.
९६—पाद टिप्पणि	५—	गार्हस्थस्य—	गार्हस्थस्य.
१०४—पाद टिप्पणि	६—	द ास्यां—	दशास्यां
१०६—पंक्ति	१९—	से—	को
१११—पाद टिप्पणि	४—	प्रवज्रेद्—	प्रव्रजेद्
११२—पंक्ति	१७—	पिता—	गुरु.
११४—पाद टिप्पणि	३—	समुत्तनकाय—	संयुत्त निकाय.
११७—पाद टिप्पणि	३—	मवरवर्सी—	मवरवयर्सी
१२०—पाद टिप्पणि	५—	व्यक्तुमिच्छति—	त्यक्तुमिच्छति.
१२१—पाद टिप्पणि	४—	hospilality	hospitality.
१२५—पाद टिप्पणि	२—	वाप्पदारो वा—	वाप्यदारो वा.
१४०—पाद टिप्पणि	२—	तिलमुट्टि—	तिलमुष्टि.
१४२—पाद टिप्पणि	५—	रब्द्रिदर्मूलफलेन—	रब्द्रिर्मूलफलेन.
१५२—पाद टिप्पणि	२—	णाश्रयागतमतिथि—	णाश्रमागतमतिथि.
१५२—पाद टिप्पणि	”—	वसिष्ठ,८—	वसिष्ठ, ९.
१५४—पंक्ति	६—	(पितरों, पूर्वजों)—	पितरों (पूर्वजों).
१६३—पाद टिप्पणि	५—	पूर्वोल्लिखित कृति—	एजुकेशन इन एंशण्ट इण्डिया
१८४—पाद टिप्पणि	१—	together one—	together on one
१८४—पाद टिप्पणि	४—	इन्सटिट्यूशन्स—	इंस्टिट्यूशन्स.
१८९—पाद टिप्पणि	२—	मनु, ८, ५—	मनु, ८, १५.
१९१—पंक्ति	१२—	पू ा—	पूछा.
१९६—पाद टिप्पणि	१—	classndeterminant—	class-determinant.
२०९—पंक्ति	९—	हॉष्किन्स—	हॉप्किन्स

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh